महाभाव – दिनमणि श्रीराधाबाबा

(प्रथम खण्ड)

पृष्ठ संख्या 201-300 तक

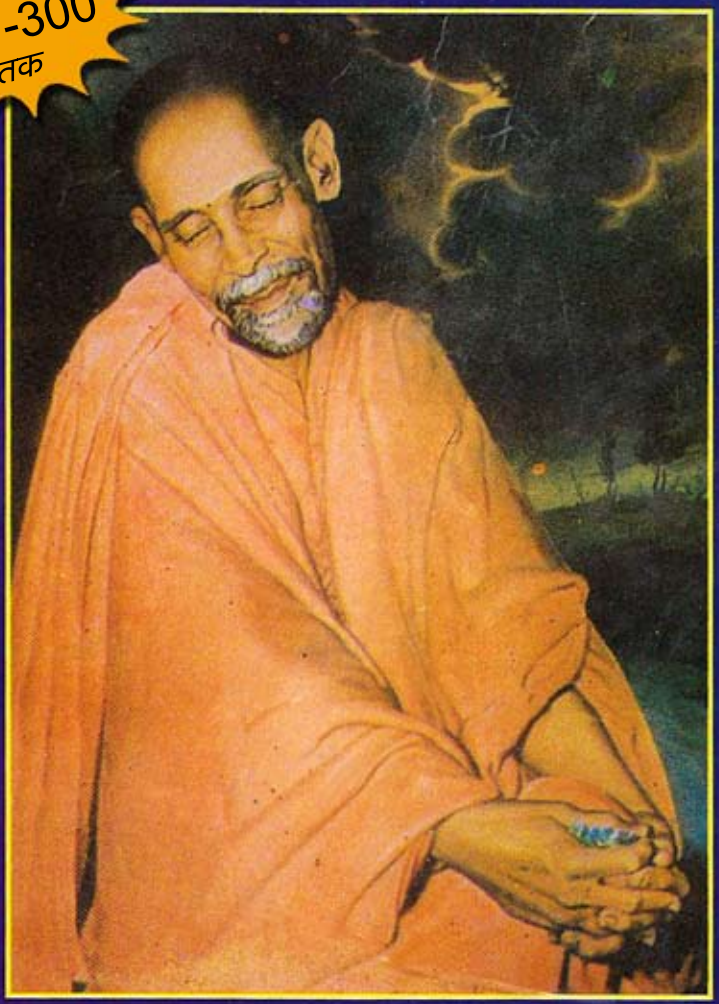

साधु कृष्णप्रेम

तो केवल श्यामसुन्दर ही श्यामसुन्दर भरे हैं । मैं चाहूँ तो भी क्या करूँ ? जबकि जगह ही नहीं बच रही है । उद्धव ! तुम्हीं बताओ, प्रियतम प्राणनाथ श्यामसुन्दर को छोड़कर उनकी जगह दूसरे किसी को कैसे बैठाऊँ ? मेरे श्यामसुन्दर ने मेरे हृदय को चारों ओर से घेरकर छा लिया है । उनके रहते हृदय में दूसरा कैसे आवे ? नहीं, नहीं उद्धव ! असंभव है, प्राण भले ही चले जावें, परन्तु अब इस हृदय में दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता । यहाँ तो बस, नित्य निरन्तर श्यामसुन्दर ही रहेंगे ।

उद्धव ! तुम्हें विश्वास नहीं होगा - वह मूर्त्ति, प्यारे श्याम सुन्दर की मूर्त्ति कभी एक क्षण के लिये भी हृदय से नहीं हटती । मैं चलती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दर की छवि मेरे हृदय में रहती है । मैं जिस क्षण अपनी दृष्टि को बाहर किसी और पदार्थ की ओर ले जाती हूँ तो देखती हूँ, वहाँ भी मेरे श्यामसुन्दर की छवि है, हृदय में भी, बाहर भी केवल श्यामसुन्दर ही दीखते हैं । दिनभर जब तक जागती रहती हूँ, तब तक श्यामसुन्दर, एक मात्र श्यामसुन्दर ही नजरों के सामने रहते है । रात में जिस क्षण सोने की चेष्टा करती हूँ, आँखें मूँदती हूँ, उस समय भी प्रियतम का तिरछी चितवनयुक्त मुखसारविन्द सामने रहता है । स्वप्न देखने लगती हूँ, देखती हूँ - श्यामसुन्दर आये हैं, मेरे सामने खड़े है, मेरी ओर तिरछी चितवन से देख रहे हैं । मैं पकड़ने दौड़ती हूँ, वे पीछे हटने लग जाते हैं । मैं सहम जाती हूँ, वे भी खड़े हो जाते हैं। फिर पकड़ने के लिये दौड़ती हूँ, फिर भागने लगते हैं। इस प्रकार उनको न पकड़ पाने पर मैं जब रोने लगती हूँ, तब बस हँसकर मुझे हृदय से लगा लेते हैं । आँखें खुल जाती हैं । मैं देखती हूँ, विचार करती हूँ, वह सब स्वप्न था, पर फिर ज्यों ही सामने देखती हूँ - पाती हूँ वे तो सामने खड़े हैं, ये हैं, ये हैं ।

इस प्रकार उद्धव ! एक क्षण के लिये भी प्राणवल्लभ की वह घुँघराली अलकों वाली छवि मेरे मन से नहीं हटती । उद्धव एक क्षण के लिये भी प्यारे श्यामसुन्दर के सिवा और कोई वस्तु मुझे दृष्टिगोचर ही नहीं होती । नाराज मत होना - तुम श्यामसुन्दर के सखा हो, तुम्हारी बात पर मैं ध्यान नहीं दे पा रही हूँ, परन्तु ध्यान न दे पाने के लिये लाचार हो गयी हूँ, उद्धव, कोई भी उपाय शेष रह नहीं गया है । उद्धव ! न जाने श्यामसुन्दर मेरे प्यारे ने तुम्हें सिखाकर भेजा है या तुम अपने मन से ही इस योग की बात सुना रहे हो, पर कुछ भी हो, तुम्हीं सोचो, हम गाँव की ग्वालिनें योग लेकर

क्या करेंगी । सचमुच ही ऊधो तुम भूलते हो, तुम ठगा गये हो, अरे, तुम जिस श्यामसुन्दर की बात सुना रहे हो, उसके हृदय की बात ही तुम नहीं जानते । तुम कहते हो - श्यामसुन्दर सर्वेश्वर हैं, समस्त संसार के एक मात्र स्वामी हैं ।' तुम्हें पता नहीं, वही सर्वेश्वर, वही अखिल ब्रह्माण्डनायक, अपने आपको ब्रज में आकर भूल गया । तुम्हें एक दिन की बात सुनाती हूँ, तुम चकित रह जाओगे । विश्वास करो, उद्धव ! वे मेरे प्रियतम प्राणनाथ हैं । मेरा सबकुछ उनका है, और उनका सबकुछ मेरा है । तुम्हें सुनाती हूँ -

'मथुरा जाने के कुछ ही दिन पहले मैं उनसे रूठ गयी थी । श्यामसुन्दर के सखा ! मैं देखना चाहती थी, उस दिन हृदय खोलकर देखना चाहती थी, मेरे प्रियतम मुझे कितना प्यार करते हैं । आँखों के सामने श्यामसुन्दर थे और मैं मुख फेरकर बैठ गयी । वे आये, बडे प्रेम से मेरे हाथों को पकड़कर बोले - "प्रियतमे ! अपराध क्षमा करना, मैं देर से आया । तुम मेरी प्रतीक्षा में व्याकुल थी; परन्तु क्या करूँ ? तुम्हारा ध्यान करते-करते मैं भूल गया था, कि मैं तुमसे दूर हूँ,; मैं तुम्हें पास ही अनुभव कर रहा था, सबकुछ भूलकर तुम्हें ही देख रहा था । विश्वास करो, मेरी प्राणेश्वरी ! मेरे हृदय में तुम्हारे सिवा और किसी के लिये तिलभर भी जगह नहीं; तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरे प्राण हो, प्रिय ..... उद्धव । अब बोला जाता नहीं । कण्ठ भर आया । अब आगे तुम्हें उस दिन की बातें नहीं सुना सकूँगी । मेरे प्यारे श्यामसुन्दर की उस दिन की झाँकी, उस दिन की लीला तुम्हें अब आगे नहीं सुना सकूँगी। चाहने पर भी तुम्हें नहीं सुना पाऊँगी । नाराज मत होना, सुनने पर भी तुम समझ नहीं सकोगे । उद्धव ! उद्धव !! बस, बस, इतना ही कहती हूँ कि तुम ठगे गये - मेरे प्रियतम के हृदय की बात, हृदय का रहस्य तुम नहीं जान सके । तुम्हारे सर्वेश्वर के हृदय में क्या-क्या है, वे इसे नहीं जानते । उद्धव ! ओह उनका हृदय तो, क्या बताऊँ,; वह तो मेरे पास है । यह देखो, देख सको तो देखो; तुम्हारा सर्वेश्वर यहाँ मेरे हृदय में क्या कर रहा है,; परन्तु तुम अभी नहीं देख सकोगे । जाने दो, उद्धव ! हम गँवार ग्वालिनों को मरने दो, श्यामसुन्दर का नाम ले-लेकर मर जाने दो । उद्धव! उद्धव !! तुम भूलते हो लोक-लाज को, कुल-कान को, यश-अपयश को, तो आज से बहुत ही पहले मैं जला चुकी हूँ; सबको भस्म कर चुकी हूँ । वे सबके सब न जाने कभी के जलकर खाक हो गये और बह गये उस अजस्त्र धारा में, श्यामसुन्दर के प्रेम की प्रबल रसधारा में । उनकी गन्ध भी नहीं

बच रही है । उद्धव यदि तुम देख पाते कि मेरे हृदय में क्या भरा है । प्यारे सखा ! श्यामसुन्दर के सखा के नाते तुम मेरे भी सखा हो; पर सखा ! क्या करूँ, तुम्हारी आँखें वहाँ नहीं पहुँच रही है । देखो, मेरे शरीर के सूखे ढ़ाँचे के भीतर दृष्टि ले जाओ - वहाँ देखो ; देखो ! केवल श्याम सुन्दर का प्रेम-समुद्र लहरा रहा है । तरंग पर तरंग उठ रही है । उनमें मैं हूँ और श्यामसुन्दर हैं, दोनों ही उस असीम अगाध प्रेम समुद्र के अतल तल में डूबे हुए हैं । वहाँ और कोई नहीं है, केवल मैं हूँ और मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर हैं। यह देखो ! मैं श्यामसुन्दर बन गयी, श्यामसुन्दर ! आह, तुम नहीं देख पाते । क्या करूँ जाने दो ।

"उद्धव ! तुम प्रेम समुद्र में डूबे हुए को, बिलकुल अतल तलमें जाकर विलीन हो जाने वाले को बाहर लाना चाहते हो ? प्रेम के समुद्र को तुम घड़े में उटाकर रखना चाहते हो ? सोचो ! कितनी भूल कर रहे हो, देखो, उद्धव! तुम चाहो, मैं चाहूँ तो भी समुद्र घड़ें में नहीं समा सकता । अरे ! मैं पगली हो गयी हूँ - क्या कहते-कहते क्या कह जाती हूँ । मैं भूल गयी, उद्धव । बस इतना ही कहना है, व्यर्थ की चर्चा हमें मत सुनाओ । हम ग्वालिनें योग की बात, ज्ञान की बात सुनकर क्या करेंगी ? अजी, तुम हमें ठगने आये हो ? नहीं, नहीं उद्धव ! ठग नहीं सकोगे, तुम्हारा यह योग हमें भुला नहीं सकेगा। तुम्हारा यह ज्ञान हमें विचलित नहीं कर सकेगा । मैं चाहूँ तब भी मैं श्यामसुन्दर को भूल नहीं सकती ।

सुनो, प्यारे सखा । बड़ी छिपी बात बतलाती हूँ । आज से बहुत दिन पहले श्यामसुन्दर आये थे, उन्होने मेरे इस शरीर रूप घड़े को अपने प्रेम से भर दिया । भरकर फिर क्या किया बताऊँ ? सुनो, चारों ओर से स्वयं ही पहरे पर बैठ गये । कानों को बन्द करके वहाँ बैठ गये, आँखों को बन्द करके वहाँ बैठ गये, नाक के छिद्रों को बन्द करके वहाँ बैठ गये, मुख को बन्द करके वहाँ बैठ गये । और बताऊँ ? स्वयं रसरूप होकर बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दाहिने-बायें, सब जगह पहरा देने लगे । उद्धव । प्यारे उद्धव !! मेरे सूखे शरीर के भीतर देखो, तब पता चलेगा - देखो; श्यामसुन्दर रसरूप होकर भीतर भरे हैं । यह शरीर का घड़ा भरा है प्रेम से, और सर्वथा सब ओर से बन्द है । इसे तुम योग एवं ज्ञान के क्षार समुद्र में डुबाना चाहते हो ? यह भी कभी संभव है ? उद्धव ! इस प्रयास को छोड़ दो। यह प्रेम का घट तुम्हारे योग के खारे समुद्र में कभी डूबने का नहीं है। यह तो डूबेगा

श्यामसुन्दर के मधुर सुधामय प्रेम समुद्र में । स्वयं प्रियतम आयेंगे, स्वयं इसका मुख खोलकर इसे अपने में मिलाकर एक कर लेंगे । प्यारे सखा । उपाय नहीं है । लाख प्रयत्न करो, श्यामसुन्दर के हाथों से भरा हुआ प्रेममय घट, अमृतमय घट, तुम्हारे योग के खारे समुद्र में डूबेगा ही नहीं । ओह ! मैं सचमुच ही पागल हो गयी हूँ । क्या-क्या बक रही हूँ । क्षमा करना प्यारे सखा ! मैं होश में नहीं हूँ, यह पगली का प्रलाप है । मेरे जले हुए, झुलसे हुए हृदय में ज्ञान नहीं बच गया है कि मैं विचार कर तुमसे बात कर पाऊँ । कभी कुछ, कभी कुछ बकती ही चली जा रही हूँ ।

प्यारे श्यामसुन्दर के सखा ! तुम देख नहीं पाओगे; पर यदि देख पाते तो देखते कि श्यामसुन्दर यहाँ से कभी कहीं गये ही नहीं, एक क्षण के लिये भी कहीं बाहर नहीं गये । वे यहीं हैं, सदा यहीं रहते हैं और यही रहेंगे । मैं रहूँगी और मेरे प्रियतम रहेंगे । अनन्तका तक रहेंगे । अभी-अभी कल की बात है । तुम्हें सुनाती हूँ, कल सायंकाल की बात है । मेरे प्रियतम प्राणनाथ वन से गाय चराकर लौट रहे थे । मैं उस क्षण घर के भीतर बैठी थी, अनुभव कर रही थी श्यामसुन्दर तो पास ही हैं । इतने में वंशी बजी, चेत हुआ, सोचा भ्रम हो गया है । श्यामसुन्दर तो गाय चराकर अभी लौट रहे हैं। मैं सुनने लगी, उस मुरली की मधुर ध्वनि को । मेरे नाथ, मेरे प्राणबन्धु, मेरा नाम ले-लेकर मुरली में सुर भर रहे थे । बाहर आयी । देखा आह ! कैसी अनुपम छवि है, नील कमल के सदृश सुन्दर मुखारविन्द था, श्याम मेघ के समान समग्र तन संध्याकालीन सूर्य की रश्मियों में झलमल-झलमल कर रहा था, मुख पर धूलि के कण उड़-उड़कर पड़ रहे थे, स्वेद की कुछ बूँदें झलक रही थीं, घुँघरारी अलकें बार-बार मुख पर आ जाती थीं । और मेरे प्यारे श्यामसुन्दर उन अलकों को बार-बार बायें हाथ से हटाते रहते थे । आह ! उन आँखों की शोभा क्या बताऊँ। तुरन्त का खिला कमल उस शोभा के सामने फीका पड़ जाता था । मेरे हृदयेश्वर बार-बार तिरछी चितवन से मुझे देख लेते थे । मैं देख रही थी और वे मस्तानी चाल से, अत्यन्त मधुर चाल से चलते हुए मेरी ओर ही आ रहे थे । उद्धव ! उद्धव !! मैं मूर्च्छित होती जा रही थी । मुझ पर उनकी मनोहर मुसकान जादू का काम कर रही थी । इतने ही में वे बिल्कुल मेरे पास से निकले । मित्र क्या बताऊँ ? रोक नहीं सकी मैं अपने को; उनमें मिल जाने के लिये, अपने-आपको उनमें मिला देने के लिये दौड़ पड़ी । वे हँसने लगे, हँसते-हँसते लोट-पोट से होने

लगे। अपने सखा सुबल को उन्होने कुछ संकेत किया, मैं कुछ सहमी, वे कुछ हँसकर आगे बढ़े । मैं भी आगे बढ़ी । मैं और वे दोनों आमने-सामने थे । मैं नाच रही थी । वे आगे बढ़ते, मैं आगे बढ़ती; वे पीछे हटते, मैं पीछे हटती, वे हँसते, मैं हँसती । इस प्रकार न जाने कितनी देर हम लोग खेलते रहे । परन्तु मैं अब अपने को सम्हाल नहीं सकी । मूर्च्छित होकर भूमि पर गिरने ही जा रही थी, बस, गिर ही चुकी थी कि मेरे प्राणनाथ दौड़े आये । उन्होने अपनी सुकुमार भुजाओं का सहारा देकर मुझे बैठा दिया । पास ही मेरी सखी खड़ी थी, उसे संकेत करके उन्होंने कहा - 'री नेक इस बावली को सम्हाल ।' उद्धव ! ..... अब आगे कुछ कहते नहीं बनता, बस, उस आनन्द को व्यक्त करने की शक्ति नहीं । आह ! उद्धव मेरे प्यारे सखा के ... .. मैं भूल गयी हूँ, अपने-आपको भी भूल जाती हूँ ।

नहीं, नहीं मित्र ! श्यामसुन्दर तो मथुरा गये हुए हैं, कल नहीं कुछ दिन पहले ऐसी घटना हुई थी । सचमुच ही उद्धव मैं भूल गयी थी, सोच रही थी कल ही वह घटना घटी होगी इसलिये सुनाती गयी । पर प्यारे सखा ! प्यारे श्यामसुन्दर के सखा ! मोहन के सखा !! यह घटना रोज ठीक सायंकाल होते ही आँखों के सामने नाचने लगती है । ठीक-ठीक अनुभव करती हूँ । जो हो मित्र ! वह मुखसरोज वह श्याम मेघ सा शरीर, वे कमल के समान नेत्र, वह मस्तानी चाल, उनकी वह मोहन मुसकान कभी भूली नहीं जाती । निरन्तर वे ही, वे ही आँखों के सामने नाचते रहते हैं । प्यारे मित्र ! श्याम सुन्दर के सखा ! मेरे प्राणनाथ का हृदय अत्यन्त उदार है, उसमें निष्ठुरता नाम को भी नहीं है । उन्हें मेरी दशा का पता नहीं, इसीलिये वे देर कर रहे हैं । इसीलिये प्यारे उद्धव ! मैं हाथ जोड़कर एक भीख माँगती हूँ, एक विनय करती हूँ - इतनी ही कृपा, बस, इतनी ही कृपा करना; जाकर मेरे श्यामसुन्दर से, मेरे प्राणनाथ, मेरे हृदयेश्वर से कह देना - आँखें तरस रही हैं, झुलसती जा रही हैं, उसी मुख सरोज को, उसी श्यामसुन्दर शरीर को, कमल दल से नेत्रों को, उसी ललित मस्तानी चाल को, उसी मन्द मुसकान को, आँखें खोज रही हैं । आँखों को बस, इतनी ही प्यास है । प्यारे उद्धव ! मेरी ओर से कह देना - बस, एक बार के लिये ही, एक ही बार के लिये, वही झाँकी कराकर वे फिर भले ही मथुरा चले जावें, खूब सुख से रहें । एक बार बस, एक बार दासी के नयनों की प्यास बुझाकर चले जायें । उद्धव

इतनी ही भीख तुमसे माँगती हूँ । तुम मेरे प्राणनाथ को, मेरे हृदयेश्वर को, मेरे हृदय का यह सन्देश सुना देना ।"

{यह पू० गुरुदेव की अनुभूति बाद में उन्होंने श्री शिवभगवानजी फोगला को उनके प्रश्नों के उत्तर में लगभग १९४२-४३ में बतायी थी । जिसे पू० श्रीपोद्दार महाराज ने मार्च १९५७ के पश्चात् 'कल्याण' में प्रकाशित कर दी थी । बाद में यह लीला प्रेम सत्संग सुधा माला' नामक पुस्तक में भी प्रकाशित कर दी गयी । इसकी भाषा भी पू० गुरुदेव ने श्रीशिवभगवानजी के लिये बहुत ही हलकी-फुलकी व्यवहार में लायी है । पू० गुरुदेव को 'उद्धव लीला' की अनुभूति उनके श्रीराधाभाव में प्रतिष्ठित होने के पश्चात् भी हुई है। वह भी आगे इस पुस्तक में दी जायगी । महाभावगत लीलाओं के गांभीर्य में जो अन्तर इस लीला में और आगे की लीलाओं में परिलक्षित होगा, वह साधनागत परिपक्वता का ही परिद्योतक है, ।

यह लीला पू० गुरुदेव के तत्कालीन मानस का ही विलक्षण चित्र प्रस्तुत कर रही है । सर्वांश में पू० गुरुदेव का चित्त अन्तःकरण भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम से पूरा भर चुका था । यही उन्होंने इस लीला में अभिव्यक्त किया है । पू० गुरुदेव साधारण ब्राह्मण के घर में एक जीव के रूप में जन्मे थे । परन्तु अपनी अदम्य लगन और भगवत्कृपा से उनका भीतरी चित्त परम निर्मल, परम शुद्ध होकर पहले ब्रह्मज्ञान परायण और तब भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम में लबालब भरकर डूब गया, यही स्थिति मननीय और अनुकरणीय है । वैष्णव पाठकों से यही विनम्र निवेदन है कि हम सब भी मृत्यु के पूर्व अपना अन्तःकरण ऐसा ही परम रसमय बना लें जैसा पू० गुरुदेव का था ।

गठिया और पेचिश का भयंकर प्रकोप

संभवतः १९३७ ई० की बात है । पू० गुरुदेव चूरू के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होकर स्वर्गाश्रम ऋषिकेश आ गये थे । वहाँ पू० गुरुदेव के पैर के घुटनों में गठिया हो गया । गठिया भी अति भयंकर प्रकोप से युक्त था । घुटनों में सूजन आ गयी थी । सूजन भी अतिशय उग्र थी । पीड़ा भी इतनी अधिक थी कि रात को नींद नहीं आ पाती थी । दर्द के मारे उठना-बैठना संभव नहीं था । फिर शौच के लिये थोड़ी दूर आना-जाना तो असंभव था । उस पर पेचिश का प्रकोप अलग से परेशान कर रहा था । पू० गुरुदेव का

नियम था कि शौच के पश्चात् स्नान अवश्य करना । चाहे कितनी ही बार शौच जाना पड़े, वे स्नान किये बिना नहीं रहते थे । उन दिनों श्रीसेठजी जयदयालजी के पास ही वे रहते थे, अत: उनका ध्यान सेठजी बहुत रखते थे। श्रीसेठजी ने एक व्यक्ति की उनकी सेवा पर ड्यूटी लगा रखी थी । पीड़ा के मारे जब हिलना-डुलना शक्य नहीं था तो सेवा तो अन्यों को ही करनी पड़ती थी । शौच जाने के लिये लोग उन्हें उठाकर कमोड पर बैठा दिया करते थे और बाद में कमोड पर से उठाकर स्नान करवाते थे । यह सब कार्य दूसरों के द्वारा ही होता था । पू० गुरुदेव को भयानक पीड़ा थी । दवा वे लेते नहीं थे । अत: वे कब तक ठीक होंगे, पूरा अनिश्चय था । एक दो दिन, पाँच सात दिन की सेवा हो तो कोई कर भी दे, अनिश्चितकालीन सेवा से परिचारकों का घबड़ाना स्वाभाविक ही था । श्रीसेठजी का प्रात:कालीन सत्संग तो वहीं गंगा के किनारे वट वृक्ष पर ही होता था, अत: वह सत्संग पू० गुरुदेव के श्रवणगोचर हो जाता था । सायंकालीन सत्संग श्रीसेठजी संध्यावन्दन करके फिर टीबड़ी पर (गंगातट की रेतीली भूमि पर) किया करते थे । पू० गुरुदेव दोनों समय सत्संग भी सुनना चाहते थे, अत: उन्हें सत्संग के लिये स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज अथवा अन्य लोग कंधे पर उठाकर ले जाते थे एवं कंधे में उठाकर ही बाद में उन्हें वटवृक्ष के नीचे जहाँ वे छोलदारी में रहते थे, वहाँ पहुँचाना पड़ता था । साधुओं के रहने की व्यवस्था विशाल वट वृक्ष के नीचे लकड़ी के तख्त पर छोलदारी (छोटा तम्बू) लगाकर ही की जाती थी। सायंकालीन सत्संग में उन्हें ले जाने का ध्यान स्वामी रामसुखदासजी महाराज बराबर रखते थे, परन्तु उस दिन संयोग ऐसा हुआ कि रामसुखदासजी किसी अन्य कार्य में व्यस्त हो गये और सीधे सत्संग में पहुँच गये । पू० गुरुदेव की सेवा में हीरालालजी नाम के एक हष्ट-पुष्ट व्यक्ति थे । कारण पू० गुरुदेव को गोद में उठाकर लघुशंका भी करानी पड़ती थी । पू० गुरुदेव कुछ समय तक तो स्वामीजी की प्रतीक्षा करते रहे जब वे नहीं आये एवं सत्संग का समय व्यतीत होने लगा तो उन्होने श्रीहीरालालजी महाराज से प्रार्थना की कि वे उन्हें श्री सेठजी के सत्संग में टीबड़ी पर ले चलें ।

श्रीहीरालालजी वेदान्ती थे । वे सेवा से तंग आये हुए तो थे ही अत: व्यंग वचन बोलते हुए कहने लगे - 'स्वामीजी आप स्थान से तो परिचित हैं ही कि कहाँ सत्संग होता है तथा उस स्थान पर जाने वाले मार्ग से भी आप

परिचित हैं ही । इसके सिवा आप तो अनन्त ज्ञान सम्पन्न, अनन्त योग शक्ति सम्पन्न हैं ही । आप ही आप तो केवल हैं, आपके अतिरिक्त अन्य की सत्ता ही कहाँ है, आप ही हीरालाल हैं, और आप ही स्वामी चक्रधरजी हैं, आपके लिये वहाँ जाना कौन सी बड़ी बात है ।

वे जानते थे कि जो व्यक्ति चलना-फिरना तो दूर रहा, उठ-बैठ भी नहीं सकता, जिसके घुटने में गठिया के कारण बहुत भीषण दर्द है तथा अत्यधिक सूजन है, वह व्यक्ति भला टीबड़ी तक कैसे जा सकेगा ? टीबड़ी तो वट वृक्ष से लगभग तीन-चार किलोमीटर दूर थी ।

श्रीहीरालालजी के व्यंग करने पर पू० गुरुदेव ने उनसे कहा - मैं सचमुच ही आज वहाँ जाना चाहता हूँ । यह सुनकर हीरालालजी ने कहा - तभी तो मैं कह रहा हूँ आपकी शक्ति अनन्त है, अतुलनीय है, अत: आपके लिये वहाँ जाना कौन कठिन कार्य है ।

श्रीहीरालालजी लगातार व्यंग वचन बोले जा रहे थे । अत: पू० गुरुदेव ने अति दृढ़ता से कहा - "क्या हीरालालजी महोदय ! आप समझते हैं कि मैं सत्संग सुनने नहीं जा सकता ? श्रीहीरालालजी ने फिर वैसे ही व्यंग वाक्यों की आवृत्ति कर दी । अब तो पू० गुरुदेव ने भगवत्कृपा का असंभव को संभव करने वाला आश्रय लिया । उन्होने आँखें मूँदकर कुछ समय के लिये भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण किया ।

पू० गुरुदेव का यह सुदृढ़ विश्वास था कि शरीर पर जो भी दुख आता है उस दु:ख के रूप में भगवान् ही आते हैं । रोग रूपी भगवान् का न तो कोई स्वागत करना चाहता है, और न कोई उस रूप में भगवान् को आश्रय देना चाहता है । परन्तु पू० गुरुदेव तो रोगरूपी भगवान् से कहते थे कि नाथ ! यदि इसी रूप में मुझे अपना दर्शन देना चाहते हैं तो मैं आपका पूर्ण मन से स्वागत करता हूँ । यह शरीर आपका घर है । आप जब तक इस शरीर में रहना चाहें रहें, यह शरीर रूपी घर आपका ही है, इस में आप यथारुचि यथाकाल पूर्ण स्वतंत्रता से निवास करें । विश्व में रोग रूप में सर्वत्र आपका तिरस्कार होता है, दवा का, डाक्टर का, अस्पतालों का आश्रय लेकर लोग आपको घर से तिरस्कारपूर्वक निकालना चाहते हैं । आप शरीर रूपी घर नहीं छोड़ना चाहते, दुखी हो होकर लोग विकल होकर आपको शरीर से निकालने के लिये देवी देवताओं के मंत्र-तंत्र, स्तोत्र, कवच, महामृत्युञ्जय आदि अनुष्ठानों का प्रयाग करते हैं। परन्तु मेरा शरीर रूपी यह एक घर ऐसा है

जहाँ आपका नित्य स्वागत है । जब तक आप रहना चाहेंगे आपको यहाँ निवास मिलेगा । विश्व में एक घर तो मेरा शरीर अवश्य ऐसा है जहाँ आपका महाभीषण रोग रूप में भी नित्य अभिनन्दन था, अभिनंदन है, और सदा रहेगा । पू० गुरुदेव के मन में यह संकल्प ही नहीं था कि रोग रूपी भगवान् क्यों आये, कब तक वास करेंगे, और कब प्रस्थान करेंगे ।

पू० गुरुदेव कहा करते थे कि कभी आधे क्षण के लिये भी उनके मन में यह संकल्प नहीं आता था कि यह रोग क्यों आया ? बस, पू० गुरुदेव ने उन्हीं रोग रूपी भगवान् से इतनी ही सामर्थ्य की माँग की कि वे उन्हें टीबड़ी पर सत्संग में सम्मिलित हो सकने लायक छूट दे दें । भक्तवत्सल भगवान् भला ऐसे निर्मल परम विश्वासी 'वासुदेव: सर्वमिति' की सच्ची भावना रखने वाले पू० गुरुदेव के संकल्प को खण्डित थोड़े ही कर सकते थे ? उनकी 'कुर्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्तुम्' सामर्थ्य भी यहाँ हार मान ही जाती थी ।

पू० गुरुदेव भगवान् का स्मरण करके टैन्ट की दीवार की तरफ मुख करके बैठ गये । फिर टैंट के ही बाँस आदि का सहरा लिये-लिये वे धीरे-धीरे दरवाजे की ओर सरकने लगे । धीरे-धीरे चलकर द्वार-देश के पास आ गये । वहाँ चार-पाँच फुट लम्बा एक बाँस रखा था । उस बाँस के लट्ठ को लेकर उसके सहारे पू० गुरुदेव कमरे के बाहर आ गये । अब पू० गुरुदेव क्रमश: टीबड़ी की ओर बढ़ने लगे । पहले तो वे सरकते से चल रहे थे, धीरे-धीरे उनकी चाल में गति आ गयी । श्रीहीरालालजी यह सब चकित हुए देख रहे थे । जो स्वामीजी उठ भी नहीं पा रहे थे, वे ही अब टीबड़ी पर चलकर जा रहे हैं । पू० गुरुदेव के पीछे-पीछे वे भी आये । पू० गुरुदेव उस दण्ड के सहारे चलते-चलते टीबड़ी पर पहुँच गये थे । ज्यों ही पू० गुरुदेव श्रीसेठजी के पास पहुँचे, त्यों ही धम्म से उस रेतीली भूमि पर गिर पड़े । वहाँ तक पहुँचने का रोग भगवान् ने संकल्प पूरा कर ही दिया था । श्रीसेठजी को एवं अन्य सत्संगियों को पू० गुरुदेव को वहाँ चलकर आया जानकर बहुत ही आश्चर्य हुआ । टीबड़ी से निवास स्थान तक तो वापस स्वामी रामसुखदासजी महाराज उन्हें अपने कन्धे पर बैठाकर ले आये।

उस गठिया रोग से पू० गुरुदेव अत्यधिक परेशान थे । टीबड़ी पर जाने वाली घटना जिस दिन हुई उसके बाद भी पीड़ा बढ़ती ही जा रही थी। दर्द के मारे नींद नहीं आती थी । उन्हें लगा कि अब सहन करने की शक्ति शून्य-सी हो रही है । रात्रि की बात है । उस असह्य पीड़ा से विकल होकर

पू० गुरुदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा - मैं यह नहीं कहता कि आप मेरा रोग दूर कर दें । रोग के रूप में आप ही थे, आप ही हैं, आप ही रहेंगे । परन्तु इतना निवेदन है कि जितनी मात्रा में रोग का कष्ट देते हैं उसी अनुपात में उसे सहने की शक्ति भी दें । पू० गुरुदेव के इतना कहते ही उन्हें ऐसा लगा मानो भगवान् श्रीकृष्ण के नेत्र सजल हो उठे हैं तथा वे उनसे कह रहे हैं - "सचमुच क्या मैं इतना निष्ठुर, इतना निर्दयी हूँ कि तुम्हें उतना कष्ट दूँगा, जो तुम्हारी सहन शक्ति की सीमा के परे हो ?"

उनकी यह उक्ति सुनकर एवं उनके नेत्रों में झलमल असीम प्यार को देखकर पू० गुरुदेव का मन द्रवित हो गया । उनकी आँखों से झलमल आँसू बह चले और वे उनसे कहने लगे - "मुझसे बढ़कर कौन अधम होगा जो अपने शरीर के लिये आपसे प्रार्थना करता है । मुझे कुछ नहीं चाहिए नाथ ! मेरी नीचता की सीमा नहीं।"

इन भावों के प्रवाह में पू० गुरुदेव बह चले । थोड़ी देर पश्चात् पू० गुरुदेव को नींद आ गयी । आज पू० गुरुदेव को बत्तीस-तैंतीस दिन पश्चात् नींद आयी थी । पू० गुरुदेव दो-तीन घंटे गहरी नींद में सोये । जब जगे तो देखा उनके रोग में विस्मयकारी परिवर्तन है । पीड़ा सोलह आने में चौदह आना समाप्त हो गयी है । उन कृपालु की कृपालुता की सीमा नहीं । उनकी कृपा का द्वार जैसा पू० गुरुदेव के लिये खुला था, और खुला है, उसी प्रकार सभी के लिये उन्मुक्त रूप से खुला हुआ है । जिस प्रकार पू० गुरुदेव का गठिया ठीक हुआ उसी प्रकार किसी का कोई भी कार्य सम्पन्न करे देना उन सर्व समर्थ के लिये एक क्षुद्र सी बात है।

पू० गुरुदेव का चौदह आना रोग तो वहीं ठीक हो गया था, फिर भी दो आना शेष था । सत्संग का सत्र तो समाप्त हो रहा था । श्रीसेठजी जयदयालजी बाँकुडा एवं कलकत्ता जाने वाले थे । रोगी की सेवा का भार कलकत्ते एवं बाँकुड़ा में ढ़ोना संभव नहीं था । अतः पू० गुरुदेव से सेठजी ने पुछवाया कि उनकी कहाँ की टिकट मँगायी जाय। पू० गुरुदेव क्या उत्तर देते । वे तो निरन्तर सेठजी के साथ गीता का कार्य करने के निमित्त से चले आये थे। श्रीसेठजी का इस प्रकार पूछने का तात्पर्य यही था कि बीमारी में उन्हें साथ रखना श्रीसेठजी को असुविधाजनक लग रहा था । अतः पू० गुरुदेव ने यही उत्तर दिया कि उन्हें उनके गाँव फखरपुर में माँ के पास छोड़ दिया जाय ।

श्रीसेठजी ने पू० गुरुदेव की वैसी व्यवस्था करवा दी । एक व्यक्ति उन्हें उनके गाँव छोड़ आया । पू० गुरुदेव ग्राम के बाहर एक पेड़ के नीचे रह गये। पू० गुरुदेव की माँ सूचना पाकर आयी । पू० गुरुदेव कहते थे कि पेचिश एवं गठिया दोनों ही उनकी माँ ने हलुआ खिला-खिलाकर ठीक कर दिया । माँ के स्नेह से पू० गुरुदेव सोलहों आना स्वस्थ हो गये । स्वस्थ हो जाने पर तो उन्हें पुन: सेठजी के पास जाना ही था ।

तभी से रोग के लिये अथवा रोग जनित कष्ट के लिये पू० गुरुदेव का दृष्टिकोण ही दूसरा हो गया । पू० गुरुदेव तो सम्पूर्ण जीवन-पर्यन्त ही कभी कोई, कभी कोई, भीषण बीमारियाँ एवं रोग सहते ही रहे, परन्तु रोग के आने एवं जाने के सम्बन्ध में अब उनके मन में कोई संकल्प ही उत्थित नहीं होता था ।

सत्संग-प्रवचन से विरति

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका बैठे हुए संध्या कर रहे थे । शाम होने वाली थी । अपनी संध्या से निवृत्त होकर श्रीसेठजी पू० गुरुदेव के पास आकर खड़े हो गये । उनका पू० गुरुदेव के प्रति बहुत ही प्यार था । श्रीसेठजी चाहते थे वे बाईस घंटे चाहे नाम-जप करें, चाहे ध्यान करें, मौन रहें, कुछ भी करें परन्तु दो घंटे प्रवचन अवश्य करें । श्रीसेठजी को सत्संग कराना बहुत ही महत्वपूर्ण लगता था । उनका सत्संग सुनने यदि कोई नहीं आता तो वे उसके पास पहुँच जाया करते थे । एक बार बीकानेर में श्रीसेठजी आये हुए थे । वे श्रीईश्वरदासजी डागा के यहाँ सत्संग करा रहे थे । उनका निवास तो प्राय: राठियों के यहाँ हुआ करता था । श्रीसेठजी ने बहुत से आस्तिक एवं प्रतिष्ठित लोगों की सूची बनवायी, उन्हें निमंत्रण देकर सत्संग में बुलाने की योजना थी । परन्तु जब सत्संग के प्रारम्भ का समय हुआ तो पाया गया कि जिन-जिन सज्जनों को आमन्त्रित किया गया था, वे एक भी उपस्थित नहीं थे । श्रीसेठजी की एक बहुत बड़ी विशेषता थी, वे पक्के निष्काम कर्मयोगी थे, अत: निराश होना तो जानते ही नहीं थे । अत: यह तय हुआ कि उन सज्जनों के घर जाकर उन्हें गीता सुनायी जाय । श्रीसेठजी दूसरे दिवस मध्याह्न में उन-उन सज्जनों के घर अपने विश्वासी सहयोगियों के साथ पहुँच गये । परन्तु राजस्थान में उन दिनों किसी के घर में गीता-पाठ

तभी होता था जब कि उनके परिवार में कोई मृत्यु शय्या में पड़ा हो । अत: वैसे गीता पाठ अशुभ माना जाता था । श्रीसेठजी ने गीता सत्संग के महत्व को समझाने की बहुत प्रकार से चेष्टा की परन्तु घरवालों ने उनकी एक भी नहीं सुनी और श्रीसेठजी को बिना गीता प्रवचन किये ही उनके घर से लौटना पड़ा।

श्रीसेठजी पू० गुरुदेव से भी इसी निष्ठा का पालन कराना चाहते थे । श्रीगुरुदेव श्रीसेठजी के आग्रह से जहाँ-जहाँ जाते प्रवचन किया करते थे । कलकत्ते में जब पू० गुरुदेव होते तो ईडन गार्डन में हजारों लोग उनका भाषण सुनने आते । मारवाड़ी लोग पू० गुरुदेव को लौड़िया स्वामीजी कहा करते थे । लौड़िया का अर्थ मारवाड़ी भाषा में छोटा होता है । श्रीरामसुखदासजी पू० गुरुदेव से वय में बड़े थे, अत: वे बड़के स्वामीजी के नाम से विख्यात थे । पू० गुरुदेव का प्रवचन लोग यद्यपि बहुत दतचित्त होकर सुनते थे, परन्तु लोगों का जीवन जैसे का तैसा ही रहता था । लोगों के जीवन में सर्वथा परिवर्तन न देखकर पू० गुरुदेव बहुत ही निराश होते थे । वे सोचने लगते कि अवश्य यह उनकी ही न्यूनता है । जब लोग उनकी कही बातों के अनुसार जीवन ही नहीं बनाते, उनकी बकवास व्यर्थ है । श्रीसेठजी इस मत के थे कि **'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन'**; वे सोचते थे कि अपनी नीयत शुद्ध है, और अपना कर्म पूर्ण सात्विक है, तो फिर कोई उसे माने अथवा जीवन न बनावे, अपने को इसकी चिन्ता नहीं करना चाहिए ।

पू० गुरुदेव की यह कठिनाई थी कि उन्हें श्रोतागणों के रूप में सदा अपने प्रियतम श्रीकृष्ण ही दिखते थे । वे अनुभव करते कि श्रीकृष्ण निज प्रेमोद्दीपनवश उमड़े आकर उनका स्वागत तो करते हैं और इसीलिये विश्व-रूप में हजारों की संख्या में सत्संग में उत्सुकतावश आते हैं, परन्तु मेरी बकवास को व्यर्थ समझकर उस पर कान नहीं धरते । अवश्य ही मेरा जीवन मेरी कथनी के अनुरूप नहीं है, अत: श्रीकृष्ण का यही संकेत है कि मेरा जीवन मेरी कथनी के अनुरूप हो जाय ।

श्रीसेठजी उस दिन उनसे आकर बहुत ही प्यार से बोले - "कहिये स्वामीजी ! आपके प्रति क्या कहूँ, क्या निवेदन करूँ ?"

पू० गुरुदेव को ठीक ऐसा लगा मानो साक्षात् भगवान् नारायण ही उनके सम्मुख खड़े उनसे वार्ता कर रहे हैं । अत: उन्होने अत्यन्त सहज विनम्रता

पूर्वक कहा - इस समय आपके मन में जो भी स्फुरित हो रहा है; आप वही कहें ।

श्रीसेठजी ने पूछा - क्या कह दूँ ?

पू० गुरुदेव ने कहा - आप अवश्य कहें और प्रामाणिता से वही कहें जो आपके मन में है

श्रीसेठजी मानो संकोच कर रहे थे अत: बार-बार 'क्या कह दूँ' शब्द को दुहरा रहे थे । फिर वे कहने लगे - भगवान् बहुत ही कृपा परवश हैं । वे इतने करुणामय हैं कि यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी से भगवान् के शरणापन्न हो जाये, भगवान पर सर्वथा निर्भर हो जाय तो भगवान् उसकी सभी कामनाएँ पूरी कर देते हैं ।

श्रीसेठजी के मुख से यह बात सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही विस्मय हुआ । इन दिनों में पू० गुरुदेव इसी भावना में लहरा रहे थे । पू० गुरुदेव की जो अनुभूति थी, श्री सेठजी ने उसे ज्यों-की-त्यों मानो वाणी प्रदान कर दी थी । पू० गुरुदेव का यद्यपि भगवद्विश्वास अडिग था परन्तु श्रीसेठजी ने उस अनुभूत सत्य की अत्यधिक परिपुष्टि कर दी ।

प० पू० गुरुदेव के आदर्श थे भगवान् श्रीचैतन्यदेव जिन्होंने जीवन भर में मात्र आठ श्लोक बोले थे, और समस्त मत्स्यभक्षी बंगाली समाज को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण के पावन नाम गायन में नचाया था । विगत पाँच सौ वर्षो में शाक्तमत की हिंसा त्याग करवाकर लाखों लोगों को वैष्णव बना दिया था ।

श्रीपोद्दार महाराज को पू० गुरुदेव का प्रवचन करना सर्वथा रुचिकर नहीं था । वे बहुत ही गंभीर विनोदी थे । अत: जब भी पू० गुरुदेव प्रवचन करने जाते वे व्यंग भरी वाणी में अवश्य कहते "स्वामीजी प्रवचन करने जा रहे हैं ?" और गुरुदेव क्या कहते मुख नीचा कर लजा जाते । वे पू० गुरुदेव को स्पष्ट कहते थे कि आप सेठजी की सब बात मानिये, परन्तु प्रवचन करने की बात मत मानिये ।

अनेक बार ऐसा होता था कि पू० गुरुदेव को सायंकाल गोधूलि बेला मे प्रवचन करने जाना होता । यह बेला वही होती जब श्रीकृष्ण गोचारण कर लौट रहे होते । पू० गुरुदेव उस समय अपनी भाव दशा में भगवान् श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में होते और जनता होती उनके प्रवचन सुनने को उत्सुक । ऐसे अवसर पर मंच में आने में उन्हें विलम्ब हो जाता था । वे

भावदशा में ऐसे विभोर होते कि लोग समझते स्वामीजी रुग्ण हैं । उनकी आन्तरिक दशा को तो कोई पहचानता था नहीं।

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका चाहते थे कि पू० गुरुदेव आसेतु हिमाचल ग्राम-ग्राम, नगर-नगर गीता पर प्रवचन करते हुए सत्संग करावें । एक दिवस आन्तरिक सत्संग में सत्संगियों के मध्य में श्रीसेठजी ने अपनी ऐसी रुचि प्रकट भी कर दी । पू० गुरुदेव ने सेठजी का प्रस्ताव सुनकर यही उत्तर दिया कि आपका मुझ पर परम अनुग्रह है, परन्तु मैं सत्संग कराने के योग्य नहीं हूँ। मेरा जीवन जब तक उतना गंभीर नहीं बने, प्रवचन करना व्यर्थ है। गंभीर आध्यात्मिक जीवन के पश्चात् ही लोगों पर वाणी का प्रभाव होता है । श्रीसेठजी उसी समय बोल उठे - (मारवाड़ी भाषा में) "ठीक है स्वामीजी को कहनो एक प्रकार सेती उचित है, परन्तु कोई इनको योग्य बणाय दै तो ।"

यह बात एक महासिद्ध सन्त के द्वारा कही जानी बहुत ही गंभीर अर्थ रखती थी । पू० गुरुदेव को उसी समय ऐसी अनुभूति भी हुई कि साक्षात् भगवान् नारायण उन्हें जैसे ज्ञान निष्ठा की परिपक्वावस्था प्रदान करने को उत्सुक हों । परन्तु पू० गुरुदेव को तो श्रीकृष्ण का निरीह प्रेम अपेक्षित था । अत: पू० गुरुदेव ने श्रीसेठजी को स्पष्ट कह दिया कि सत्संग कराने की उनकी रुचि सर्वथा नहीं है । हाँ, यदि सेठजी उन्हें व्यक्तिगत बुढ़ापे में अपनी लाठी पकड़ने की सेवा सौंपना चाहें तो वे सहर्ष समुपस्थित हैं । श्रीसेठजी भी अपनी धुन के पक्के थे । व्यक्तिगत सेवा के प्रस्ताव को श्रीसेठजी ने ठुकरा दिया ।

सत्संगियों ने पू० गुरुदेव को बहुत ठगा गया माना, क्योंकि सेठजी ने भरी सभा में कह दिया कि "स्वामीजी चूक गया । अगर म्हारी बात मान लेता तो म्हारे माथै वे बहुत बड़ो दायित्व पटक देता ।"

इधर पू० गुरुदेव समझ रहे थे कि जब ज्ञान मार्ग के रास्ते जाना ही नहीं है तो उसका मोह कैसा ?

गीता के "य इमं परमं गुह्यं" श्लोक का नवीन अर्थ

यह घटना २८ अप्रेल सन् १९३९ ई० की है । पू० गुरुदेव अपने उपासना कक्ष में बैठे थे । गीता तत्व विवेचनी के लेखन का कार्य हो चुका था । इस लेखन कार्य की सम्पन्नता बाँकुड़ा में हुई थी । उस समय

श्रीपोद्दार महाराज भी वहीं थे। पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके आराध्य भगवान् का चित्रात्मक श्रीविग्रह विराजित था । सहसा पू० गुरुदेव का यह उपास्य श्रीविग्रह चिन्मय हो उठा । पू० गुरुदेव को दृष्टिगोचर हुआ कि श्रीविग्रह के दोनों ओठ हिल रहे हैं । उनका ध्यान उस पर और केन्द्रित हो गया। अधरों का हिलना ही नहीं, अचानक उसी में से भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये । पू० गुरुदेव का हृदय आनन्द से भर गया ।

पू० गुरुदेव से श्रीकृष्ण ने पूछा - "गीता तत्व विवेचनी का कार्य तो सम्पन्न हो गया, अब मुझे बताओ अठारहवें अध्याय के ६८ वें अथवा ६९ वे श्लोक का अर्थ क्या है ?"

इस प्रश्न को सुनकर पू० गुरुदेव ने कहा - "सभी आचार्यों ने एवं टीकाकारों ने 'य इमं परमं गुहयं' को सम्पूर्ण गीताशास्त्र ही माना है । सभी ने यही अर्थ लगाया है कि इस परम गुहय गीताशास्त्र का जो मेरे भक्तों में प्रचार करेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा और भू मंडल में उससे बढ़कर मेरा प्रियतर कोई होगा ही नहीं ।" आचार्यों के इसी मत को मैं भी मानता हूँ ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - एक दृष्टि से यह अर्थ पूर्णत: सही है परन्तु 'य इमं परमं गुह्यं' का परम गूढ़ अर्थ कुछ और ही है । इसका वास्तविक अर्थ है "सर्वगुह्यतमं परमं वच:" जो इसी अध्याय के ६४ वें श्लोक में है ।

इस वाक्य को सुनते ही पू० गुरुदेव के अन्तर में ६४ वाँ श्लोक उभर आया । इस श्लोक के उभरते ही एक-एक शब्द के गर्भ में निहित अर्थ भी उभरने लगे । 'सर्व गुह्यतमं' शब्द गीता में केवल एक बार यहीं ही आया है। और इस सर्वगुह्यतम परम वचन का अर्थ है -

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहंत्वा सर्वपापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ।।

६४ वे श्लोक में 'सर्व गुह्यतमं' के तुरन्त बाद भूय: शब्द इसीलिये आया है कि 'मन्मना भव मद्भक्तो' यह पंक्ति ज्यों-की-त्यों नवें अध्याय के ३४ वें श्लोक में भी आ चुकी है । और यही बात भगवान् भूय: कहकर पुन: कहने जा रहे हैं और यही भगवान् का सर्वगुह्यतम परम वचन है ।

इतनी बात का विचार करने में पाठकों को किंचित समय लगा होगा किन्तु पू० गुरुदेव को अर्थ बोध होने में एक क्षण भी संभवतः नहीं लगा हो ।

तत्क्षण ही पू० गुरुदेव भगवान् श्रीकृष्ण से पूछ बैठे - तो क्या सर्वधर्म का परित्याग करके आपके प्रति सर्वभाव से आत्म समर्पण करना ही श्रीगीताजी का सर्वगुह्यतम प्रतिपाद्य तत्व है । और इसका आचरण करने वाला ही आपको सर्वाधिक प्रिय है ?

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - वस्तुतः यही सर्व गुह्यतम तथ्य है । गीता के सर्वान्त में ज्यों ही यह सर्वगुह्यतम परम वचन कहा गया, त्यों ही तत्व की रक्षार्थ मुझे यह भी तुरन्त कहना पड़ा कि जिस व्यक्ति के जीवन में तप न हो, भक्ति न हो, श्रवणेच्छा नहीं हो, श्रद्धा नहीं हो, ऐसे अतपस्वी को, अभक्त, अश्रवणेच्छुक - असूया प्रिय को इस परम रहस्यमय तत्व का कथन नहीं करना चाहिए ।

पू० गुरुदेव के मन की विचित्र स्थिति हो गयी थी । एक नवीन अर्थ, एक नवीन दृष्टि को पाने का तो उनके मन में परम उल्लास था, परन्तु साथ ही एक आत्यन्तिक खेद भी था कि हाय, व्यर्थ ही मैंने इतने दिवस खो दिये । अपने उल्लास को छिपाते हुए पू० गुरुदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण को उपालम्भ दिया - यह अर्थ पहले क्यों नहीं बताया ? पहले ये अर्थ प्रकट हो जाते तो क्या हानि हो जाती ? अब तक मुझे भ्रम में रखने की क्या आवश्यकता थी ?

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा - मुझे तेरे द्वारा गीता तत्व विवेचनी का कार्य सम्पन्न करवाना था । तुम्हारे सहयोग के अभाव में यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता । ज्यों ही यह कार्य सम्पन्न हुआ, इन श्लोकों का मर्म अब तुम्हारे सम्मुख उद्घाटित कर दिया ।

इस नवीन दृष्टि को देकर भगवान् श्रीकृष्ण तो तिरोहित हो गये और इसके साथ-साथ ही पू० गुरुदेव की सम्पूर्ण विचारधारा ही आमूल-चूल परिवर्तित हो गयी ।

पुनः भगवत्प्राकट्य और आदेश

इस सद्य उद्घाटित श्रीमद्भगवद्गीता के नवीन अर्थ की भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दृढ़ अवधारणा कराये जाने के पश्चात् पू० गुरुदेव ने यही निर्णय किया

कि अब क्षेत्र सन्यास का व्रत लेकर वृन्दावन ही रहना है। सरलतम साधना समर्पण योग की है एवं "मन्मना भव ....." तथा सर्व धर्मान् .... श्लोकों में जो निष्ठा वर्णित है वही सबसे उत्तम है । पूर्ण समर्पणमय प्रेमयोग की रसमयी साधना ही अब उनका जीवन होगी, यही उनका निर्णय था । शरीर सेवा श्रीसेठजी लेना चाहते नहीं थे अत: सेठजी के पास रहने का द्वार बन्द हो ही चुका था । श्रीसेठजी का स्पष्ट उत्तर था कि नश्वर शरीर की सेवा के लिये वे पू० गुरुदेव को अपने साथ रखना चाहते नहीं और गीता प्रचार की इच्छा पू० गुरुदेव में थी नहीं ।

श्रीसेठजी की पू० गुरुदेव से एक डेढ़ घंटे तक वार्ता होती रही । सेठजी चाहते थे कि वे किसी भी प्रकार से गीता प्रचार के लिये स्वीकृति दे दें परन्तु पू० गुरुदेव की आन्तरिक आस्था ही प्रचार से हट गयी थी । अत: श्रीसेठजी द्वारा दिया संपूर्ण प्रबोध-उद्बोध उन्हें अपने निश्चय से विचलित नहीं कर सका । खिन्न मन से श्रीसेठजी ने पू० गुरुदेव को वृन्दावनवास करने के लिये अपनी सहमति प्रदान कर दी ।

यह घटना बाँकुड़ा की ही है । श्रीसेठजी से बिदायी लेकर पू० गुरुदेव अन्तिम बिदाई लेने के लिये पू० पोद्दार महाराज के पास पहुँचे । इस निर्णय का उन्होंने भी अनुमोदन नहीं किया । उन्होने भी पू० गुरुदेव को इस विचार से विरत करने की बहुत चेष्टा की । परन्तु पू० गुरुदेव को तो वृन्दावन का आकर्षण खींच रहा था ।

श्रीपोद्दारमहाराज की सर्वज्ञ दृष्टि पू० गुरुदेव के उस सौभाग्य की संभावना पर मंडरा रही थी जिसकी उपलब्धि सनकादि मुनियों एवं याज्ञवल्कादि ऋषिगणों को भी दुर्लभ है । श्रीसेठजी के द्वारा रोके जाने की भावना मात्र जगत् का कल्याण थी और श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ का प्रचार थी, परन्तु श्रीपोद्दारमहाराज पू० गुरुदेव को महाभाव दान का योग्य पात्र समझकर उन्हें अपने संग रखना चाहते थे और अपने हृदय का सौरभ महाभाव उन पर उँड़ेल देना चाहते थे ।

श्रीपोद्दारमहाराज इतने संगोपनप्रिय थे कि यह कहना नहीं चाहते थे कि जिस वृन्दावन के पीछे आप पागल हो रहे हैं, वह सचल वृन्दावन मेरा यह पंचभूतों का पिंजड़ा शरीर ही है । यह उस वृन्दावन से किसी भी प्रकार कहीं भी न्यून नहीं है । उस वृन्दावन की पंचभूतात्मक भूमि को भगवान् श्रीकृष्ण ने पांच हजार वर्ष पूर्व संस्पर्शित किया था । परन्तु वे श्रीकृष्ण साक्षात् सदेह

उनके देह के भूषण हैं, हृदय के हार हैं, चित्त में निवास करते हैं और उनकी चेतन सत्ता से एक हैं । जब पू० गुरुदेव को पोद्दार महाराज संकेत से समझा ही नहीं सके तो प्यार एवं अधिकार की भाषा का उन्होंने प्रयोग किया। आत्मीयतापूर्वक कहा - "हम लोग जाने देंगे तब न आप जायेंगे । देखें, आप कैसे वृन्दावन जाते हैं ?"

परन्तु हतभाग्य ! इस प्रेम भरी उक्ति को भी पू० गुरुदेव ने दूसरी प्रकार ले लिया। वे बोल गये - "आप लोग रेल टिकट ही तो नहीं देंगे, क्या हुआ ? भगवान् ने इस शरीर को दो पैर दे रखे हैं, पैरों में चलने की शक्ति भी दे रखी है, और लोगों से मार्ग पूछने के लिये मुख में वाणी दे रखी है । लोगों से मार्ग पूछते-पूछते बाँकुडा से आसनसोल चला जाऊँगा, आसनसोल से रेल की पटरी के किनारे-किनारे चलते हुए हाथरस पहुँच जाऊँगा। और तब हाथरस से वृन्दावन ।"

इसके पश्चात् अब पोद्दार महाराज के पास कहने को बचा ही क्या था ? पोद्दार महाराज के कथन का अर्थ था कि प्रेम के आग्रह का बन्धन पू० गुरुदेव भला कैसे तोड़ेंगे ? परन्तु जब कोई प्रेम-संबंध ही तोड़ देने को तत्पर हो जाय, उसे शरीर से रोकना कोई सज्जनता, शील और महानुभावता थोड़े ही है ।

पू० गुरुदेव श्रीपोद्दारमहाराज के पास से अपने कक्ष में चले आये । वे अपने उपास्य के श्रीविग्रह के सम्मुख बैठ गये। अचानक उस चित्रात्मक श्रीविग्रह से पुनः श्रीकृष्ण उनके सम्मुख प्रकट हो गये । अति स्नेहपूर्वक वे पू० गुरुदेव की ओर निहार रहे थे । अहा ! उनके बिम्ब-विडम्बी अधर-पल्लव कैसे मधुमय सुधारस से परिपूरित थे।

अरुणिम गोल कपोल विलक्षण कमनीयता से युक्त थे । उनके सुन्दर कर्ण-कुंडल विविध रत्नों की ज्योति से दमक रहे थे । सहसा उनकी अति मधुर नेहभरी गंभीर वाणी पू० गुरुदेव के चित्त में ध्वनित हो उठी ।

भगवान् ने प्रश्न किया - "तुम वृन्दावन क्यों जाना चाहते हो ?" पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "वह आपकी लीला भूमि है।" भगवान् श्रीकृष्ण ने पूछा - "जिसके संस्पर्श मात्र से तुम्हें मेरे दर्शनों का सौभाग्य मिला, उस पोद्दार महाराज के लिये मेरी बतायी सब बातें तुम विस्मृत कर गये ? बताओ, उसके प्रति तुम्हारी सन्देह रहित क्या मान्यता है ?"

पू० गुरुदेव - "मैं उनको सिद्ध कोटि का सन्त मानता हूँ ।" भगवान् ने पुनः प्रश्न किया - "सिद्ध कोटि का सन्त किसे कहते हैं ?" पू० गुरुदेव ने कहा- "जिसका मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सभी कुछ भगवत्स्वरूप ही हो जाता है, वही सिद्ध सन्त है । जिसका हृदय तुम्हारी लीला भूमि हो जाय वह सिद्ध सन्त है ।"

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - "यदि तुम इस पोद्दार महाराजरूप जीव की महिमा में कहे गये मेरे सभी कथन स्मरण रखते तो मुझे पुनः तुम्हें प्रकट होकर यह सब कहने की आवश्यकता ही नहीं थी । जब तुम पोद्दार महाराज को रससिद्ध सन्त मानते हो तो उनमें और वृन्दावन में अन्तर ही क्या रहा ? मैं पूर्णतः भी यह कह चुका हूँ इसके अन्तःकरण चतुष्टय पर मैं ही अभिव्यक्त हूँ । इसका हृदय मेरी विलास भूमि है । वह अचल वृन्दावन है तो यह सचल वृन्दावन है । उसके प्रेम भरे आग्रह का तेरे द्वारा तिरस्कार हुआ है । यह तेरा अक्षम्य संतापराध है । भविष्य में उनकी रुचि ही तेरा जीवन और जीवन की साधना होनी चाहिए ।" यह स्पष्ट भगवद्वाणी सुनकर पू० गुरुदेव स्तब्ध थे ।

अब तो उनकी बुद्धि श्रीपोद्दारमहाराज की अवज्ञा के कारण परितप्त थी। अब उन्हें अपने वृन्दावन जाने के हठी आग्रह में कुछ भी सार समझ में नहीं आ रहा था । वे ठीक समझ रहे थे, देख रहे थे कि पोद्दार महाराज तो मात्र कलेवर हैं इनमें नित्य विलसित हैं भगवान् श्रीकृष्ण । संत शरीर तो मात्र माध्यम है और यह माध्यम भी निरावृत भगवत्संस्पर्श से पूर्णतया चिन्मय हो गया है । जब पारस पत्थर जैसी जड़ वस्तु लोहे को विशुद्ध स्वर्ण में परिवर्तित कर देती है, जब गंगाजल गन्दे छीलर, नाले को गंगा बना देता है तब क्या भगवान् का परम चिन्मय नित्य विलास जिस हृदय देश में हो रहा है, जिसके जड़ अस्थि-युक्त हाथ चिन्मय भगवान् के चरणों को स्पर्श कर चुके हैं, वह शरीर भला क्या, वृन्दावन से किसी भी प्रकार, किञ्चित भी न्यून हो सकता है ? कदापि नहीं ।

पू० बाबा अपने हठी स्वभाव को धिक्कार रहे थे । सचमुच प्रकृति (स्वभाव) जिसकी जो भी होती है - वह दुरत्यय ही होती है । थोड़ी देर पश्चात् भगवान् फिर बोले - जब तुमको चलती-फिरती मेरी लीलास्थली और स्वयं मैं सुलभ एवं उपलब्ध हूँ फिर इससे अधिक तुम्हें और क्या चाहिए ?

पू० गुरुदेव ने तत्क्षण निर्णय कर लिया कि अब इस सचल वृन्दावन--पोद्दार महाराज के साथ ही निरन्तर रहना है ।

भगवान् श्रीकृष्ण का स्पष्ट निर्देश था - "सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय तक आठ पहरों में एक बार श्रीपोद्दारमहाराज का दर्शन कर लो, भले वह दर्शन एक क्षण का ही हो, इसके अतिरिक्त जब तक श्रीपोद्दारमहाराज प्रसन्नचित्त से अनुमति न दें, तब तक वृन्दावन नहीं जाना ।

पू० पोद्दार महाराज के जीवनव्यापी संग का व्रत एवं जीवनदात्री माँ से अन्तिम मिलन

भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश देकर अन्तर्धान हो जाने पर अब पू० गुरुदेव के मन में वृन्दावन जाने का भाव विसर्जित हो गया था । वे अपने उपासना कक्ष से उठकर श्रीपोद्दारमहाराज के पास आये । श्रीपोद्दार महाराज अपने सम्पादन कार्य में संलग्न थे । उनके पास पू० गुरुदेव चुपचाप बैठ गये । फिर अत्यंत मनुहारपूर्वक बोले - अब मैं वृन्दावन नहीं जाऊँगा ।

श्रीपोद्दार महाराज भी घुटे हुए गुरु थे । कहने लगे - "नहीं, नहीं, आपको भगवान् ने दो पैर दिये हैं, चलने की शक्ति भी दी है, फिर रास्ता पूछने के लिये मुख में वाणी दी है । लोग आपको वृन्दावन का रास्ता बता ही देंगे।"

श्रीगुरुदेव ने श्री पोद्दार महाराज के घुटनों को सहलाते हुए थोडी मनुहार करते हुए कहा - "क्षमा करिये, अब पुरानी बात भूल जाइये, मैंने अब वृन्दावन जाने का विचार छोड़ दिया है । अब तो एक ही बात है, सदा आपके ही पास रहना है। बस, चौबीस घंटे में एक बार आपका दर्शन मिल जाया करे ।"

किसी भी वस्तु को अच्छी प्रकार से गाड़ने के लिये उसे हिलानी पड़ती ही है अत: पोद्दार महाराज ने पर्याप्त आना-कानी की परन्तु गुरुदेव ने अपनी विनय, प्रेम, मनुहार से उन्हें मना ही लिया ।

अब पू० गुरुदेव को अन्तिम बार अपनी माँ से मिलकर सदा-सदा के लिये बिदाई ले लेनी थी ।

पू० गुरुदेव ने इसके लिये भी पोद्दार महाराज से अनुमति माँगी ।

उनका अनुमति माँगने के पीछे इतना ही उद्देश्य था कि ग्राम जाने पर माँ की ममता के कारण पोद्दार महाराज के पास रहने के व्रत में कहीं कोई बाधा नहीं खड़ी हो ।

पू० श्रीपोद्दार महाराज द्वारा यह आश्वासन भी प्रसन्न मन से दे दिये जाने के पश्चात् पू० गुरुदेव बाँकुड़ा से अपने ग्राम फखरपुर के लिये रवाना हुए । टिकट की व्यवस्था तो पोद्दार महाराज द्वारा कर ही दी गयी थी ।

रास्ते में पू० गुरुदेव को एक सुखद क्षत्रिय जाति के सहयात्री मिल गये। गया स्टेशन पर उतरने पर गाँव तक पहुँचने का प्रबन्ध उन सहयात्री द्वारा अयाचित ही हो गया ।

पू० गुरुदेव सूर्यास्त के समय गाँव में पहुँचे ।

जन्मदात्री माँ तो विश्व में सभी को मिलती हैं, परन्तु महा सौभाग्यवान वे होते हैं, जिनको अतिशय वात्सल्यवती माँ का वात्सल्यरस मिलता है । पू० गुरुदेव की माँ अगाध वात्सल्यवती साक्षात् यशोदाजी ही थीं । उस ममतामयी को कल्पना ही नहीं थी कि मेरा चक्रधर अब कभी गाँव पर आयेगा । उसे एक-एक दिन वर्ष के समान लगता था और साथ ही अनुभव होता था चक्रधर को गये तो कल्प ही बीत गये हैं । उसकी आँखें अपने सोने से पुत्र की स्मृति में सदा झरती रहती थीं और उन नेत्रों ने रोते-रोते अपने देखने की दृष्टि ही खो दी थी । उसे तो आशा ही कहाँ थी कि ये आँखें पुनः अपने नटखट पुत्र को देख पावेंगी, जो नौ वर्ष की उम्र तक पाठशाला से आते ही उसके सूखे स्तनपान करने मचल उठता था और दूध न आने पर काट लेता था । पू० गुरुदेव के आने की सूचना ज्यों ही पू० माँ को दी गयी, वे तो अपनी सुध-बुध ही खो बैठीं ।

इस अकल्पनीय बात पर विश्वास नहीं करती हुई पूज्या माताजी अपने वस्त्रों की सँभाल भुलाये चक्रधर, चक्रधर रटती घर के बाहर आ गयी । माँ के सामने दरवाजे पर उनका साक्षात् गैरिक वस्त्रधारी पुत्र खड़ा था, परन्तु माँ उसे देखकर भी प्रेमजनित सात्विक विकार से देख नहीं पा रही थी । प्रेम वैचित्य की ऐसी स्थिति रस शास्त्रों में अवश्य वर्णित है । किन्हीं भाग्यवान सन्तों ने इसे अपने भावदेश में अप्राकृत महासत्व की स्थिति में अनुभव भी किया होगा । परन्तु इस प्रेम वैचित्य की महा दुर्लभ दशा का अनुभव एक ग्रामीण साधन-शून्या गृहस्थिन को इस सत्व रज और घोर तमोमय प्रकृति

राज्य में भी हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण फखरपुर गाँव के तत्कालीन ग्रामीणों ने उस समय अपनी आँखों से देखा ।

उस सित-केशी कृशवदना, अतिवृद्धा माँ का भावावेग इतना अधिक था कि भाव भ्रमिता वृद्धा अपने पुत्र से ही पूछने लगी - "अरे भाई ! क्या तुमने मेरे बैटे को देखा है ? तुम बताओ तो मेरा बेटा कहाँ गया है ? वह क्यों चला गया है ? वह कब तक आयेगा ? बस, एक बार मिल लेता ?

वात्सल्य के प्राबल्य ने माँ के व्यक्तित्व को नखशिख झकझोर कर रख दिया था ? महा भावावेग में वह अपने बेटे को ही नहीं पहचान पा रही थी। उन्मादिनी की तरह वह न जाने कितने प्रकार की जिज्ञासाएँ अपने बेटे से ही कर रही थी । माँ की ऐसी अपूर्व प्रेमोन्मादिनी स्थिति का वास्तविक आकलन उस समय पू० गुरुदेव स्वयं ही नहीं कर सके । उन्हें उस काल में मात्र भगवद्दर्शन ही हुआ था, परन्तु गोपी प्रेम की इन गंभीरतम भावधाराओं को छूने का अवसर ही उस समय उन्हें कहाँ मिल पाया था । फिर भी पू० गुरुदेव चकित थे । सामान्यजन तो उस स्थिति को बुढ़िया का पागलपन ही मान कर मुसका रहा था, हँसी कर रहा था ।

पू० गुरुदेव के लिये यह समस्या हो गयी थी कि वे माँ को प्रकृतिस्थ कैसे करें ? पास-पड़ौस के लोगों ने उसे घेर लिया था ।

पू० गुरुदेव को अपनी माँ को जगत् के धरातल पर लाने का कोई उपाय ही नहीं सूझ रहा था । सहसा उन्हें अपना बालपन का वह नटखटपना याद आ गया, जब कि वे नौ वर्ष की अवस्था तक स्कूल से आते ही माँ का स्तन पान करने को मचल जाते थे । इस प्रसंग की स्मृति होते ही पू० गुरुदेव ने सन्यासीपने की मर्यादा उतार फैंकी। आस-पास खड़े लोगों की लज्जा की कृत्रिमता को भी पू० गुरुदेव ने तिलांजलि दे दी । सबके सम्मुख ही उन्होने माँ के स्तन खोले और स्तनों पर अपने दाँत गड़ा दिये । दाँत का गड़ाया जाना था कि पू० माँ को अपने पुत्र की उपस्थिति का परिज्ञान हो गया । अपने लाल के मस्तक को माँ ने अपनी छाती से चिपका लिया था । अब अश्रु केवल माँ के कपोल को नहीं भिगो रहे थे, अपितु सन्यासी पुत्र के मुण्डित शीश पर भी रुद्राभिषेक कर रहे थे । अपने लाल के शीश को अपनी छाती से चिपकाये माँ बहुत देर तक खड़ी रही । फिर वह अति करुण चीत्कार कर उठी - "अरे कोढ़िया चकरा, तू मुझे क्यों छोड़ गया रे ।" चकरा-चकरा कहती माँ को हिचकियाँ बंध गयी थीं । उससे चकरा शब्द बोला ही नहीं जा

रहा था । माँ के उस महावेदनामय रुदन से सारा फखरपुर ग्राम व्यथित हो गया । सभी के नेत्र बरसने लगे । आबाल वृद्ध सभी सिसकियों लेकर इस निष्ठुर सन्यासी को कोस रहे थे, जिसने ऐसी स्नेहमयी माँ को पाकर उसे बिलखती छोड़कर जीवित ही मृत्यु को वरण किया था ।

पू० गुरुदेव ने अपनी माँ एवं पिताजी की वेदनापूर्ण स्थिति पर प्रकाश डालते हुए अपने अग्रज श्रीतारादत्तमिश्र को इस अपने काव्य-मय संन्देश में लिखा है -

है पथ तुलसी वन जोह रहा हम दोनों का प्यारी प्रियतम ।
नीली सरिता हो व्याकुल है कर रही शब्द कल-कल प्रियतम ।
है अपलक बाट निहार रहीं वे वल्लरियाँ फूली प्रियतम ।
सुस्पष्ट दे रही है इंगित सारी शुक पर झूली प्रियतम ।।
काँटों की अटवी में मिलकर देरी न करो प्यारी प्रियतम ।
चेरी पर चरण सरोरुह की अविलम्ब ढरो प्यारी प्रियतम ।
नश्वर तन की पगडण्डी पर ठहरो न तनिक प्यारी प्रियतम ।
चलते जाओ, चलती जाओ, रहकर गुमसुम प्यारी प्रियतम ।
जो कहीं अनुज अधिकारी-रुचि या महीपाल-मति का प्रियतम ।
आदर कर परिचय देता जग-सम्बन्ध नेह-गति का प्रियतम ।
वे पहुँच नहीं पाते अब तक सच्चिन्मय मंजिल पर प्रियतम ।
माया का ताप नहीं मिटता, मिलता न कृष्ण तरुवर प्रियतम ।
अग्रज के सदृश अनुज तन से जिनका नाता था हे प्रियतम ।
वे पहुँचेंगे ही नित्य जहाँ कान्हा गाता था हे प्रियतम ।।
इसीलिये विश्वास, किये रहो अविचल अहो ।
व्रजपुर नित्य निवास, कुंज-स्थल पर दृग रहें ।।
उपवन के उस पार हम सब ही मिल जायँगे
माया सरित कगार पर मिलने में हानि है ।

(भावार्थ)

अरे भैया ! वृन्दावन हम दोनों प्रिया-प्रियतम की बाट, पथ जोह रहा है। नीली रसमयी-सरिता व्याकुल होकर देखो, कैसी कल-कल शब्द कर रही है । देखो, ये पुष्पित सुमनों से लदी आनन्द से फूल रही लताएँ, वल्लरियाँ हमारा

पथ पलक नहीं गिराते हुए (अपलक) अति आतुर हुई निहार रही हैं । और देखो, यह सारिका पक्षी शुक के ऊपर प्यार से झूलती हुई सुस्पष्ट संकेत दे रही है कि तुम्हें इस पथ से चलकर प्रिया-प्रियतम के पास पहुँचना है ।

अरे भैया ! यह संसार तो कंटकाकीर्ण जंगल, काँटों का वन है । इसमें आपस में एवं मुझसे मिलने में प्रिया प्रियतम के पास पहुँचने में विलम्ब हो सकता है । भगवान् नन्दनन्दन की चरण सरोरुह की चेरी श्रीराधारानी पर बिना विलम्ब किये ढर जाओ । यह तन तो नश्वर है, इसकी पगडंडी पर तनिक भी मत ठहरो । तुम चाहे स्त्री वेषधारी हो, चाहे पुरुष वेषधारी साधना के पथ में चलते जाओ, चलती जाओ, चुप-चाप गुम-सुम रहो और चलो ।

यदि छोटा भाई स्वामी चक्रधर अधिकारीदेवी अपनी स्नेहमयी माता की वात्सल्यमयी इच्छा, रुचि अथवा महीपालमिश्र पिताजी की बुद्धि के अनुसार अपना जीवन बनाता एवं उन पर आदर श्रद्धा कर जगत के संबंधों, स्नेह एवं व्यवहार के अनुसार अपना जीवन बनाता तो निश्चय ही न तो माया का ताप मिटता एवं न ही भगवान् श्रीकृष्ण रूप-तरु की छाया ही उसे मिल पाती । (श्रीतारादत्त जी की तरह) बड़े भाई के समान ही छोटे भाई चक्रधर स्वामी से जिनका जो भी नाता है, वे निश्चय ही वहाँ पहुँचेंगे, जहाँ श्रीकृष्ण वंशी बजाकर गाते हैं ।

इसलिये अविचल विश्वास किये रहो, हमारी दृष्टि व्रजपुर वृन्दावन, एवं कुंजस्थल जो हमारा नित्य निवास है, उसी पर लगी रहे । इस उपवन अर्थात् शरीर के उस पार मृत्यु के पश्चात् हम सभी निश्चय ही मिल जायेंगे, इस शरीर सें परस्पर मिलने से वहाँ पहुँचने में विलम्ब हो सकता है अत: हानि है।

भाव के किञ्चित शमन होने पर माँ ने देखा गाँव के स्त्री-पुरूष तमाशा देख रहे हैं और माँ बेटे का विशुद्ध प्यार एक क्रीड़ा कौतुक हो रहा है अत: उसने अपने चकरा को घर में अन्दर चलने के लिये कहा ।

पू० गुरुदेव ने माँ के चरण छूकर निवेदन किया कि सन्यासी का अपने घर में प्रवेश उचित नहीं ।

माँ ने पूछा - "तब तू कहाँ रहेगा ?"

पू० गुरुदेव ने कहा - "गाँव के बाहर बगीचे में ।"

यह सुनकर माँ ने कहा - "चल मैं भी तेरे साथ चलती हूँ ।"

पू० गुरुदेव के ऐसा कहते ही माँ घर के भीतर जाकर एक छोटी सी पोटली ले आयी और उनके साथ-साथ चल पड़ी । आगे-आगे गुरुदेव और पीछे-पीछे उनकी माता चल रही थी ।

पू० गुरुदेव के परिवार में पर्दे की मर्यादा बहुत ही कठोर थी । घर की स्त्रियाँ प्राय: घर के बाहर नहीं निकलती थीं । परन्तु आज माँ को न तो पर्दे की परवाह थी, न ही गृह-मर्यादा लोक लाज की चिन्ता । गाँव के बड़े-बूढ़े, लोगों से बेखबर माँ नेत्रों के आँसुओं की अजस्र धारा को पौंछती हुई पू० गुरुदेव के पीछे-पीछे चली जा रही थी।

गाँव के बाहर हाई स्कूल और एक पाठशाला थी । वह पाठशाला एक उद्यान में थी। पू० गुरुदेव ने पाठशाला में ही ठहरने का निश्चय किया ।

इधर तो पू० गुरुदेव अपना हाथ पैर धोने लगे उधर माँ ने अपनी पोटली खोलनी प्रारम्भ की । माँ ने उस पोटली में बड़ी-बड़ी अनेक पुडिया सँजोकर रखी थीं । माताजी एक-एक पुड़िया को खोलती और उसे सूँघती । उसमें दुर्गन्ध पाकर नाक सिकोड़ते हुए माँ उस पुड़िया की वस्तु को एक किनारे फेंक देती । एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी, इस प्रकार प्रत्येक पुड़िया वह फेंकती चली जा रही थी। पू० गुरुदेव वह सब देख रहे थे । पू० गुरुदेव ने पूछा - माँ ! यह तू क्या कर रही है ? माँ ने बतलाया - बेटा ! जब भी घर में कोई बढ़िया वस्तु बनती अथवा तेरी कोई प्रिय वस्तु बनती, मैं उसे पुड़िया में बाँधकर रख देती थी । कभी न कभी तो तू आयेगा ही, तब तुझे खिलाऊँगी, परन्तु अब तो ये सभी खाने लायक रही नहीं । सभी में दुर्गन्ध आ रही है । अत: फेंक दे रही हूँ ।

पू० माताजी के इस अगाध वात्सल्य पर पू० गुरुदेव बतिहारी हो रहे थे। माँ अच्छी तरह जानती थी कि मेरा बेटा सन्यासी हो गया है, वह कभी भी घर पर नहीं आयेगा । इसके पश्चात् भी अपने सन्यासी बेटे के लिये उसके हृदय के भावों का उफान ऐसा था कि वह प्यार में पगली हुई भोजन की वस्तुएँ उसके लिये बचाकर पुड़ियाओं में बाँधकर रखती थी ।

मातृ हृदय का कैसा अभूतपूर्व वात्सल्य था यह । भला कोई इसकी गरिमा कैसे शब्दों में व्यक्त कर पायेगा ? एक-एक करके वे सभी पुडिया फेंक

दी गयीं । माँ ने अब बाबा को अपने हाथ से बनाकर सद्यःसिद्ध भोजन कराया ।

माँ रात्रिभर वहीं पाठशाला में ही रही । पू० गुरुदेव ने माँ से कहा - तू सो जा ।

माँ का हृदय तो उमड़ा जा रहा था, वह तो थमने का नाम ही नहीं लेता था । उसने भरे-भरे स्वर से कहा- बेटा, सोने के लिये समय तो मुझे फिर भी मिल जायेगा । पर तू मुझे फिर कब मिल पायेगा रे, चकरा ।

माँ इतना तो जान ही रही थी कि यह यहाँ केवल मात्र कुछ दिनों के लिये ही आया है । फिर माँ ने अपनी स्खलित वाणी में कहा - चकरा रे ! अब तू केवल मेरा बेटा ही थोड़े रहा है । जो भी तुझे बेटा कहेगा, उसे ही तू माँ कह देगा । अब तो तू सारे संसार का है । है, न ?

इस प्रकार की बातें माँ कहती जाती थी और अपने आँसू पौंछती जाती थी ।

प्रातःकाल पू० गुरुदेव शौच के पश्चात् स्नान करने वाले थे । उसी समय पू० माँ ने उनके लिये कुँऐ से जल निकाला । आज उस वृद्धा के कृश शरीर में न जाने कहाँ से इतनी शक्ति आ गयी थी कि कूप से अनवरत जल निकालने पर भी थकान का नामोनिशान नहीं था ।

पू० गुरुदेव आठ नौ दिन अपने गाँव पर रहे ।

इस अवसर पर श्रीदेवदत्तजीमिश्र पू० गुरुदेव के चचेरे बड़े भाई ने श्रीमद्भागवत सप्ताह की कथा लगातार सात दिन तक कही । कथा उनके घर पर ही होती थी । कथा सुनने के लिये गुरुदेव नियम से घर जाते और कथा सुनकर घर से सायंकाल पाठशाला में वापस चले आते ।

पू० गुरुदेव के ग्राम आने की बात सुनकर न केवल उस गाँव के लोग वरं आसपास के अनेक ग्रामों के लोग पूज्य गुरुदेव से मिलने आते । पू० गुरुदेव के पिताजी जिस राजवंश के कुल पुरोहित थे, वे राजा साहब भी उनके पास मिलने आये । उन्होने पू० गुरुदेव को सन्यासी के रूप में साष्टांग दण्डवत की । कहाँ तो वयोवद्ध सम्पूर्ण गाँव के सम्माननीय राजा और कहाँ एक युवक सन्यासी । प्रणाम कराने में गुरुदेव को बहुत ही संकोच हो रहा था। वे तो बालकपन से इनके वात्सल्य भाजन रहे थे । पू० गुरुदेव ने उनका यथोचित स्वागत सत्कार किया ।

ग्रामवास की अवधि में एक दिन पू० गुरुदेव के कमण्डलु की चोरी हो गयी । गुरुदेव रात्रि में उद्यान में सोये थे, उस घने अंधेरे में कोई उनका कमण्डलु उठा ले गया । पू० गुरुदेव ने किसी से कुछ नहीं कहा । परन्तु शौच स्नानादि के लिये जलपात्र की आवश्यकता तो थी ही । पू० गुरुदेव ने उद्यान के किनारे एक पड़ी मिट्टी की हँडिया उठा ली । संभव है किसी ने शवयात्रा के काम में लेकर फेंक दी थी । सन्यासी की दृष्टि सम होनी चाहिये अतः उन्होंने वही हँडिया उठा ली । उन्होने बालू से रगड़कर उसे माँज लिया और कालिख छुड़ाकर काम में लेना प्रारम्भ कर दिया । लोगों को चोर द्वारा सन्यासी के कमण्डलु को भी उठा ले जाने की बात पर अति पश्चात्ताप हुआ और ग्रामवासी एक सुथार ने तुरन्त काष्ठ का एक कमण्डलु बनाकर पू० गुरुदेव को भेंट किया । वह कमण्डलु थोड़ा भारी अवश्य था परन्तु यावज्जीवन उसे उन्होने अपने पास रखा । पू० गुरुदेव की माताजी जब तक वे ग्राम में रहे, घर पर गयी ही नहीं । शौच स्नान के लिये तो वे अवश्य पृथक होती थीं, शेष समय पू० गुरुदेव के पास छाया की तरह बैठी रहतीं ।

माँ का वह वात्सल्य अनोखा था । पू० माँ के इस वात्सल्य के प्रति पू० गुरुदेव के मन में अत्यधिक आदर था, परन्तु वे कभी मोहाच्छन्न नहीं हुए । पू० गुरुदेव कहते थे कि माँ के इस प्रकार विकल रुदन के उपरान्त भी उनकी उपराम वृत्ति में कहीं खरौंच नहीं आयी थी । वे माँ के वात्सल्यरस का आस्वादन एक बाल केलि के रूप में मात्र अपनी माता को सुख देने भर के लिये करते थे । भीतर से सहज अति जागरूक थे। जब जगत् और शरीर ही स्वप्नवत् मिथ्या है फिर कौन माँ और कौन पुत्र । जैसे लोगों को वर्तमान में स्वयं का अनुभव नाम रूपात्मक शरीर ही होता है, उस समय पू० गुरुदेव को अपना स्वरूप मात्र समष्टि चेतन, घन आनन्द-कन्द कदम्ब-वृक्ष के नीचे स्थित श्रीकृष्णचन्द्र ही होता था । वे ही उन्हें सबके भीतर भी परम सत्य समझ में आते थे । चाहे अग्रज भ्राता देवीदत्तजी, तारादत्तजी हों अथवा पू० माताजी एवं पिताजी हों । जब व्यष्टि की जन्म मृत्यु एवं स्थिति अथवा समष्टि की सृष्टि, स्थिति और प्रलय ही उनके लिये स्वप्न से भी अधिक असत्य थे, तो फिर ये भावुक दिन-दो दिन का रोना-धोना उन्हें सर्वथा विनोद ही प्रतीत होता था । उनके मन में सम्पूर्ण जागतिक व्यवहार के प्रति अपरिसीम वैराग्य लबालब भरा था ।

श्रीमद्भागवत की कथा विधिवत् सम्पूर्ण हुई । कथा के सम्पूर्ण होने पर पू० गुरुदेव ने माँ से कहा - "माँ, सन्यासी को अपने ग्राम पर अधिक नहीं रहना चाहिए ।

यह सुनते ही तो माँ के धैर्य का बाँध टूट गया ।

उसके लिये तो ये शब्द वज्रपात के तुल्य ही थे । माँ के रुदन और व्यथा का अजस्र स्रोत फूट पड़ा । थोड़ी ही देर में यह बात ग्राम भर में फैल गयी । पाठशाला के पास भीड़ इकट्ठी हो गयी । अपने कंधे पर एक कटिवस्त्र और कमण्डलु पू० गुरुदेव की मात्र इतनी ही सम्पत्ति थी । पू० गुरुदेव की एक सहोदरा बहिन का नाम था सुहागमणि । उसके पति श्रीजुगलकिशोरजी संस्कृत के उद्भट विद्वान थे । वे वहीं खड़े थे । पू० माँ ने श्रीजुगलकिशोरजी को गुरुदेव को पटना तक छोड़ आने की बात कही। उन्होंने तत्क्षण स्वीकृति दे दी । भीगे नयन, भीगा आँचल, भीगे कपोल माँ खड़ी थी । उसकी विह्वलता की सीमा नहीं थी ।

फिर भी वात्सल्यमयी माँ ने कहा - कुछ खा ले । उसके हाथ में उस समय कुछ था ही नहीं । चक्रधर बिदा होगा इस दुख से घर में उस समय कुछ निर्मित भी नहीं था । रसोई बने तब न निर्माण हो । परन्तु माँ अपने बेटे को कुछ खा लेने की मनुहार कर रही थी। स्वयं न जाने कितने दिवसों की भूखी थी । भरे कंठ से कौर निगला कहाँ जाता था। मात्र चक्रधर को दिखाने थाली लेकर बैठती थी और धीरे से सारा भात वन में फेंक देती थी । खाया कहाँ जाता था ।

पू० गुरुदेव के मुख से निकल गया - दे ।'

बस, माँ के कानों में ज्यों ही ये शब्द प्रविष्ट हुए उसके पैरों में मानो पंख लग गये । घर में जो भी मिला, वही वह ले आयी । उसने वह मिष्टान्न गुरुदेव के हाथ में रख दिया ।

पू० गुरुदेव ने पूछा - "वह अन्नाहारी है, या फलाहारी ?"

माँ ने कहा - "यह फलाहारी है । इसे खाले । तेरा मंगल ही होगा ।"

गुरुजन, परिजन, पुरजन, एवं स्वजनों से बिदाई लेकर पू० गुरुदेव ने माँ के चरणों में मस्तक रखा । पूज्या माँ ने चरणों में रखे मस्तक अपने लाल को आशीर्वाद दिया - सुखी रहो, सदा सुखी रहो ।

पू० गुरुदेव को सूचना मिल चुकी थी कि श्रीपोद्दारमहाराज बाँकुड़ा से कलकत्ते आ गये हैं। अतः वे सीधे गोविन्द भवन में उनसे मिले । पू० गुरुदेव को आया देखकर पोद्दार महाराज को अतीव प्रसन्नता हुई ।

वह शुभ दिन ११ मई, १९३९ का था । पू० गुरुदेव दोपहर के समय गंगा स्नान को गये । परम पावनी गंगाजी में स्नान करने के उपरान्त माँ गंगा के तट पर खड़े होकर तथा हाथ में गंगाजल लेकर पू० गुरुदेव ने संकल्प लिया। "इस क्षण मध्याह्न के बाद से मैं श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार के साथ नित्य निरन्तर निरवधि रहूँगा । हम दोनों में वियोग होगा ही नहीं । भविष्य में हम दोनों में यदि वियोग होगा तो वह अब मृत्यु ही करायेगी । अथवा तब होगा जब श्रीपोद्दारजी स्वयं मुझे वृन्दावन जाने के लिये प्रसन्नचित्त से अनुमति दे देंगे ।" ऐसा संकल्प करके पू० गुरुदेव ने अपनी अंजलि का जल पुण्य सलिला माँ गंगा के निर्मल प्रवाह में छोड़ दिया ।

११ मई १९३९ से २२ मार्च १९७१ तक पू० गुरुदेव का यह व्रत अक्षुण्ण रहा । २२ मार्च को पू० पोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से अनुमति लेकर अपना शरीर त्याग किया । महाप्रेम मूर्त्ति पू० गुरुदेव पू पोद्दार महाराज के शरीर त्याग के पश्चात् भी उनकी चितास्थली में ही जीवन के अन्तिम क्षण तक वास करते रहे ।

पू० गुरुदेव के पिताश्री

पू० गुरुदेव के जन्म स्थान की लीला का पटाक्षेप ही जब हो रहा है तो यहाँ उनके पिताजी के निर्मल चरित्र पर थोड़ा प्रकाश देना आवश्यक लग रहा है ।

पं० महीपालमिश्र (पू० गुरुदेव, राधाबाबा के पिताजी) राजवंश के पुरोहित थे । पंडितजी परम सत्य निष्ठ थे।

इनमें निस्पृहता भी बहुत ही उच्च कोटि की थी । उन्होंने कभी किसी से कुछ माँगा ही नहीं । वे पूजा-पाठ के लिये कभी दक्षिणा ठहराते ही नहीं थे । उनकी अयाचकता का व्रत जीवन-व्यापी रहा कभी खण्डित नहीं हुआ। ग्राम के अतिवृद्ध लोग आज भी उनके निर्लोभी वृत्ति के प्रसंग सुनाया करते हैं।

अयाचकता का कठोर व्रत होते हुए भी उनके गृहस्थ जीवन में कभी अभाव नहीं रहा । सात्विक और साधारण जीवन व्यतीत करने के लिये यजमान लोग स्वत: ही उन्हें पर्याप्त अन्न वस्त्र दे दिया करते थे । सरल श्रृद्धालु पंडितजी के यहाँ साधु सन्तों का स्वागत सत्कार होता रहता था ।

पू० पिताजी, श्रीमिश्रजी तीर्थ यात्राएँ पैदल ही करनी चाहिए, इस मत के कठोर पालक थे । अत: उन्होंने दूर-दूर के तीर्थों की यात्राएँ पैदल ही कीं । उन्होंने अपनी पत्नी के साथ श्रीजगन्नाथधाम की यात्रा पैदल ही की। रेलगाड़ी की सुविधा होते हुए भी उन्होंने पैदल यात्रा करना ही श्रृद्धावश स्वीकार किया । वे पैदल ही गाँव से तारकेश्वरनाथ गये और तब श्रीजगन्नाथधाम गये और पैदल ही वहाँ से लौटे ।

एक बार धर्मपत्नी के साथ उन्होंने व्रजधाम की यात्रा भी पैदल ही की थी । दोनो ने साथ ही साथ श्री गोवर्धन गिरि की परिक्रमा लगायी । परिक्रमा लगाते-लगाते ही संध्या हो गयी । शरीर भी श्रान्त था । अपनी पत्नी को पंडितजी 'श्री राम' कहकर पुकारते थे । पंडितजी ने कहा - "श्री राम' क्यों नहीं यहीं विश्राम किया जाये । सूर्यास्त होने वाला है । यहाँ पास में बस्ती भी है । रात्रि को यहीं विश्राम करके फिर कल प्रात:काल यहाँ से चलेंगे ।"

पू० गुरुदेव की माताजी अपनी स्वीकृति प्रदान करने ही वाली थीं, तभी माताजी को श्रीगोवर्धन गिरि के शिखर पर आकाश में खड़े हुए भगवान् श्रीराधाकृष्ण दिखलायी दिये । वे अति मधुर स्वर में कह रहे थे, यहाँ मत रुको, यहाँ मत रुको ।

इस संकेत को पाते ही माताजी ने अति विनम्र स्वर में उनसे कहा, यहाँ रुकना उचित नहीं है । आगे बढ़ा जाय । ठहरने के लिये कोई न कोई उपयुक्त स्थान आगे मिलेगा ।

इस सुझाव को श्रीपंडितजी ने सहज प्रकार से स्वीकार कर लिया । श्रीगोर्वधन पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि वह बस्ती निरापद नहीं थी ।

उनकी सत्यनिष्ठा का जीवन्त उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है । एक बार पंडितजी को श्रीदुर्गा सप्तशती के पाठ का निमंत्रण मिला । निमंत्रण स्वीकार कर लिया गया । पाठ के संकल्प का विधान विधिवत् सम्पन्न कराके दुर्गापाठ का अनुष्ठान प्रारम्भ कर दिया गया । अनुष्ठान की अवधि में एक बार वे अस्वस्थ हो गये और यजमान के घर उनका जा सकना संभव नहीं

था। उन्होंने अपने पुत्र चक्रधर को पूछा - "क्या तू जाकर पाठ कर देगा ? मैं तो अस्वस्थतावना विवश हूँ । जब दुर्गापाठ का संकल्प ले ही लिया गया है तो पाठ करने के लिये तो जाना ही चाहिये ।" चक्रधर सदा से ही माता-पिता का आज्ञाकारी रहा । पिताजी के कहने के पश्चात् उसके न जाने का प्रश्न ही नहीं था । पू० गुरुदेव जाने के लिये पूर्णतया तैयार हो गये ।

जिस जजमान के यहाँ पाठ करना था, वह दूसरे ग्राम का था । प्रातःकाल ही स्नानादि से निवृत्त होकर चक्रधर ने दुर्गासप्तशती की पोथी संभाली और यजमान के ग्राम की ओर चल दिया । यजमान के घर जाकर उसने पाठ तो किया परन्तु पाठ समाप्त करने में बहुत अधिक समय लग गया। अभ्यास के अभाव में संस्कृत श्लोकों का धारा प्रवाह पाठ संभव नहीं हो सका । पाठ को शुद्ध एवं पूर्ण तो करना ही था । साढ़े तीन घंटे में पाठ को पूरा करके बालक चक्रधर अपने ग्राम वापस आ रहा था । दोपहरी हो गयी थी । भूख-प्यास के कारण और पैदल यात्राजनित श्रम से मुख पर थकावट के चिन्ह थे । राह में उसके मामाजी मिल गये । उसने चरण छूकर मामाजी को प्रणाम किया। मामाजी ने पूछा- इतने थके-थके कैसे लग रहे हो ? कहाँ से आ रहे हो ?

बालक चक्रधर ने सरलता से उत्तर दे दियां कि यजमान के यहाँ दुर्गा पाठ करने गया था ? संपूर्ण पाठ साढ़े तीन घंटे में पूरा कर पाया । एक आसन पर इतनी देर बैठने का अभ्यास है नहीं । अतः थकावट आना स्वाभाविक ही है । मामाजी ने चक्रधर को निरा मूर्ख बताया, साथ ही कहा कहीं इस तरह पाठ किया जाता है ? जब तक जजमान सम्मुख रहे पाठ किया, और जजमान के हटते ही नौ दस पृष्ठ उलट कर आगे बढ़ जाना चाहिए । यजमान लोग दक्षिणा कितनी देते हैं । यदि इस प्रकार साढ़े तीन-तीन घंटे एक यजमान के यहाँ पाठ किया गया तब तो जीवन का निर्वाह हो ही गया ।

बालक चक्रधर ने मामाजी की बात मान ली । क्षण भर के कुसंग का यह प्रभाव था कि जीवन की रेलगाड़ी पटरी से उतर गयी । दूसरे दिन वैसे ही दुर्गा पाठ किया जैसा मामाजी द्वारा शिक्षा मिली थी । पाठ करके बालक जब अपने गाँव की ओर वापस चला तो उसका मन उसकी भर्त्सना कर रहा था । आज तूने ठीक नहीं किया । यह गलती उचित नहीं है ।

घर पर आकर बालक चक्रधर ने अपनी सभी भूल पिताजी को सुना दी। सब सुनकर मिश्रजी को कष्ट होना तो स्वाभाविक ही था । उन्होंने अपने

इसके कुछ दिनों पश्चात् एक दिवस रतनगढ़ में जब वे अपने निवास कक्ष में प्रवेश कर रहे थे, उन्होंने देखा उनके पिताजी प्रवेश द्वार पर खड़े हैं। वे मृत्यु उपरान्त सूक्ष्म शरीर से आ करके वहाँ खड़े थे । पिताजी को देखते ही पू० गुरुदेव ने भूमि पर सिर टिकाकर प्रणाम किया और पूछा - आप यहाँ कैसे पधारे ?

पिताजी ने कहा - मैं इस समय बहुत ही कष्ट में हूँ । एक ही स्थान पर पड़ा रहता हूँ । कहीं भी आने-जाने की स्वतंत्रता नहीं है ।

उनके उत्तर को सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही आश्चर्य हो रहा था । उनका जीवन तो आस्तिक और सात्विक था, फिर यह दुर्गति क्यों हुई ? पू० गुरुदेव ने अति विस्मय से पिताजी से पूछा - "आपका जीवन तो सदाचार और निर्मलता का मूर्तिमान स्वरूप था । आप तो अत्यधिक संत सेवी, परहितैषी धर्मनिष्ठ और ईश्वरानुरागी थे, फिर ऐसी कठिन गति क्यों हुई ? यह सुनकर सत्य को उद्घाटित करते हुए गुरुदेव के पू० पिताजी कहने लगे - "जब तुमने सन्यास लिया तो परिवार के सभी लोगों का दु:ख तो स्वाभाविक ही था । तुमको बहुत समझाने का प्रयास किया गया, परन्तु तुम निश्चय के अटल थे। उस समय मेरा हृदय अतिशय विकल था । हृदयस्थ क्षोभ की सीमा नहीं थी। क्षोभ के अति आवेग में मैं कह बैठा - 'जा तेरा योग सिद्ध न हो' । एक प्रकार से यह श्राप ही था । उसी का यह कुपरिणाम था कि मैं इतना कष्ट पा रहा हूँ ।

पू० गुरुदेव ने कहा - "आपकी जो गृहस्थ सन्तान हैं, उन्हें कहें वे इसके लिये कोई अनुष्ठान करें ।"

पू० गुरुदेव के पिताजी का आशय यही था कि वे यह सब नहीं कर पावेंगे। उनकी ऊँची आध्यात्मिक पकड़ नहीं है । यह कार्य तुमको ही करना है । इतना कहकर पू० गुरुदेव के पिताजी अन्तर्धान हो गये ।

पू० गुरुदेव ने गंभीर विचार कर यही निर्णय किया कि श्री हरि: शरणम् का सवा लाख जप अति विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए करना चाहिये । उन्होंने इस आशय का एक पत्र अपने बड़े भाई श्रीतारादत्तजी मिश्र को लिखवाया । उन दिनों वे वैद्यनाथ धाम में रहकर अध्यापन कार्य कर रहे थे ।

पत्र मिलने पर उन्होंने विधि-विधान से नियम पूर्वक अनुष्ठान किया । अनुष्ठान के पूर्ण होने पर पू० पिताजी गुरुदेव को पुन: दिखाई दिये । उन्होंने

कहा - "मेरा कष्ट दूर हो गया है । मैं तुमको आशीर्वाद देने के लिये आया हूँ।"

इतना कहकर पिताजी ने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर पू० गुरुदेव को तीन बार शुभाशीर्वाद दिया । शुभाशीर्वाद देकर वे अन्तर्धान हो गये ।

इसके बहुत दिनों पश्चात् पू० गुरुदेव को श्रीबदरीनाथ जी के मन्दिर के और आगे पावन तीर्थ स्थली में एक अति हरी-भरी समतल भूमि में अनेक दिव्य और तेजस्वी साधुओं के मध्य श्रोता के रूप में उनके पिताजी बैठे दिखे, पू० गुरुदेव को इससे सन्तोष हुआ ।

पू० गुरुदेव कहते थे कि उनकी अन्तिम परिणति भागुरि ऋषि के रूप में हुई है, जो वृषभानुजी के पुरोहित हैं । शाण्डिल्य ऋषि श्रीनन्दकुल के पुरोहित हैं । यह इनकी अन्तिम परिणति उनके निधन के लगभग चौदह वर्ष पश्चात् हुई थी । पू० गुरुदेव की पू० माताजी भी मृत्यु के पश्चात् कुछ काल तक इन भागुरि ऋषि की धर्मपत्नी के रूप में ही रहीं । इनकी माताजी के संबंध में आगे प्रसंग पर वर्णन करेंगे ।

प्रवचन का त्याग एवं अखण्ड मौन-व्रत

यह बात पिछले अध्यायों में लिखी जा चुकी है कि पू० गुरुदेव में श्रीपोद्दारमहाराज ने अपनी सर्वज्ञता दृष्टि से महाभावगत उच्चाति मोहन-मादन भाव जन्य स्थितियों को प्राप्त करने की योग्यता का आकलन किया था । अतः वे उन्हें उस पथ का सर्वतोभावेन एकान्त पथिक बनाना चाहते थे।

व्रजरस की आद्यन्त मधुर भावधारा में लोक-प्रतिष्ठा बहुत ही बाधक तत्व है । अतः श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को इस प्रतिष्ठा रूपी शूकरी विष्ठा से सर्वथा अछूता रखने का दृढ निश्चय कर लिया । यह अति स्वाभाविक ही है कि सत्संग प्रवचन करके आध्यात्मिक ज्ञान की सूक्ष्म बातें बताने वालों, लोगों की शंका समाधान करने वालों एवं उन्हें साधना में प्रेरित करने वालों के प्रति जन साधारण में श्रद्धा भावना उत्पन्न होती ही है, फिर प्रवचनकर्ता यदि साधु सन्यासी वेषधरी हो तो समाज उसे भगवत्प्राप्त मानकर प्रतिष्ठा देने लग जाता है । सत्संग प्रवचन कराने वाले आयोजक उस महात्मा के व्यक्तित्व का प्रचार भी करते ही हैं, अन्यथा अधिक मात्रा में जनता श्रोता के रूप में

आती नहीं। अतः उनके नाम, त्याग, चरित्र का प्रचार किया ही जाता है इसके कारण सत्संग कराने वाला साधक तो प्रायः प्रतिष्ठा लोलुप हो ही जाता है । वह अपने मत को स्थापित करने के लिये चाहे प्रच्छन्न रुप से ही सही दूसरों के मत की, व्यक्तित्व की समालोचना भी करने लगता है ।

पू० पोद्दार महाराज पू० गुरुदेव को इस सब माया कीच का लेश भर भी संस्पर्श नहीं कराना चाहते थे ।

पू० गुरुदेव जब अपने जन्मस्थान से अपनी जन्मदात्री माँ से अन्तिम बिदाई लेकर गोविन्द भवन कार्यालय में पू० पोद्दार महाराज से मिले, उन दिनों गोविन्द भवन सत्संग का गढ़ था । वहाँ प्रतिदिन प्रातः सायं एवं मध्याह्न सत्संग प्रवचन हुआ करता था । सेठजी का आग्रह तो था ही कि पू० गुरुदेव नियमित प्रातः एवं सायं दो घंटे अवश्य प्रवचन करें । अतः आयोजकों ने पू० गुरुदेव के आते ही उनका सायंकालीन प्रवचन आयोजित कर दिया ।

पू० गुरुदेव प्रवचन करने जा ही रहे थे कि सम्मुख श्रीपोद्दारमहाराज मिल गये । उन्होने इसी प्रकार स्वाभाविक व्यंग भरे विनोद में कहा - "स्वामीजी ! प्रवचन करने जा रहे हैं ?" पू० गुरुदेव सकपका गये । उन्होंने रुककर पू० पोद्दार महाराज से कहा कि आप मेरे मन की सब दुर्बलता जानते हैं, मेरी भीतरी रुचि सत्संग कराने की सर्वथा नहीं है, परन्तु मैं श्रीसेठजी का जिन्हें मैं चतुर्थ भूमिका में प्रविष्ट महासिद्ध ज्ञानी संत मानता हूँ - हृदय तोड़ना नहीं चाहता । और वे पूर्णतया हठ पकड़े हैं कि आप बाईस घंटे खूब एकान्त भजन ध्यान-साधना करिये किन्तु दो घंटे अवश्य प्रवचन करिये । अब मैं क्या करूँ । श्रीपोद्दारमहाराज ने कहा - यह तो आपका निर्णय है परन्तु मैं तो चाहता हूँ कि आपका जीवन श्रीमद्भागवत दशमस्कंध के इस श्लोक के अनुरुप होता । आप प्रचार प्रतिष्ठा से दूर ही रहते । और वे श्लोक का उच्चारण भी कर गये ।

या दोहनेऽवहनने मथनोऽपलेप
प्रेंखेंखनार्भरुदितो क्षण मार्जनादौ
गायन्ति चैनमनुरक्त धियोऽनुकण्ठ्योः
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमयानचित्ताः ।।१०/४४/१५।।

"मथुरा नगर की स्त्रियाँ परस्पर कहती हैं - 'सखी' व्रज की गोपियाँ धन्य हैं । निरन्तर श्रीकृष्ण में लीनचित्त वे प्रेम भरे हृदय से, निरन्तर अश्रुपातवश हुए गद्‌गद् कण्ठ से उन्हीं की लीलाओं का गान करती रहती हैं । दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकों को झूला झुलाते, रोते हुए बालकों को चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरों को झाड़ते, बुहारते - कहाँ तक कहें, सारे काम काज करते समय श्रीकृष्ण के गुण-गान में ही मस्त रहती हैं ।

पू० श्रीगुरुदेव ने पोद्दार महाराज की रुचि का पालन करने का निश्चय कर लिया, परन्तु श्रीसेठजी का आग्रह भी ऐसा प्रबल था कि उन्हें अपने निश्चय को क्रियारूप देने में कुछ समय लग ही गया ।

पू० गुरुदेव, श्रीपोद्दारमहाराज के संग गोरखपुर आये और तब कुछ मास गोरखपुर रहे । गोरखपुरवास के समय की अनेक अति महत्वपूर्ण घटनाएँ आगे लिखी जायेंगीं । अभी प्रसंगान्तर न हो अतः थोडे काल भविष्य में छलांग लगा लेते हैं । पू० पोद्दार महाराज गोरखपुर से सर्वथा एकान्त में रहने की दृष्टि से डालमिया दादरी और तब रतनगढ़ आ गये थे । वहाँ से ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव में चूरु ग्राम गये थे । चूरू बीकानेर राज्य का महत्वपूर्ण जिला था ।

उन दिनों राजस्थान राज्य नहीं बना था । सम्पूर्ण राजस्थान रजवाड़ों में बँटा था । इन रजवाड़ों को अपने अन्तर्राज्यीय शासन के मामलों में पूर्ण स्वाधीनता थी । इनकी अपनी असेम्बलियाँ था । कार्यकारी कौंसिलें होती थीं। यद्यपि सभी महत्वपूर्ण पदों में मंत्री राजा के भाई बन्धु संबंधी ही होते थे, प्रजा का कोई चुनाव गत अधिकार नहीं था । राजा सर्वेसर्वा था । वही प्रधानमंत्री, मंत्रियों एवं सचिवों की नियुक्तियाँ करता था । न्यायपालिका भी स्वतंत्र नहीं थी । न्यायाधीश के निर्णय भी राजा और राजा के कृपापात्रों द्वारा अनुमोदित होने पर ही लागू हो सकते थे । सुप्रीमकोर्ट का मुख्य न्यायकर्ता राजा ही होता था । हाँ, राजा के ऊपर लंदन में इम्पीरियल कौंसिल में दरख्वास्त हो सकती थी, परन्तु वहाँ प्रजा की इतनी पहुँच ही नहीं होती थी । प्रजा की दृष्टि में राजा ईश्वर तुल्य अन्नदाता और श्रद्धापात्र होता था ।

बीकानेर राज्य का प्रधान शहर एवं मुख्य जिला होने से वहाँ कलेक्टर आदि सभी बड़े अधिकारी रहते थे । पू० गुरुदेव आंग्ल भाषा के भी अच्छे प्रवक्ता थे । हिन्दी तो उनकी अतिशय प्राञ्जल होती ही थी, साथ ही शास्त्रों

के गूढ़ रहस्यों को वे अति सरल, बुद्धि प्रधान तर्कों से प्रमाणित करते हुए विज्ञान सम्मत शैली में लोगों को समझाते थे । अत: उनका प्रवचन सुनने के लिये बड़े-बड़े पद-अधिकारी, कॉलेजों के प्राध्यापक, एवं बुद्धिजीवी लोग चावपूर्वक एकत्रित होते थे । उस दिन चूरू में पू० गुरुदेव प्रवचन करेंगे यह प्रचारित होने के कारण सभी बडे-बड़े अफसर एकत्रित हो गये थे । सभा में भीड़ भी पर्याप्त हो गयी थी ।

जब पू० गुरुदेव प्रवचन के लिये जाते थे तो उसके पूर्व श्रीपोद्दारमहाराज के पास अवश्य आया करते थे । श्रीपोद्दारमहाराज से वार्त्ता में उन्होंने पुन: वही पुराना आग्रह किया ।

'आप मेरी एक बात मान लीजिये । आप प्रवचन करना सदा-सदा के लिये बन्द कर दीजिये । सेठजी चाहे जितना प्रबल आग्रह करें, उनकी सभी बातें शिरोधार्य करिये, परन्तु इस बात को सर्वथा नकार दीजिये । इसी में आपका सर्वांगीण मंगल है । आप इस धरा में आये हैं व्रजभाव की ऊँची से ऊँची अवस्था में निमज्जित होने के लिये । अब आप उस परम एवं चरम लक्ष्य का त्याग कर प्रवचन देकर प्रतिष्ठा रूपी शूकरी विष्ठा के मूल्य पर उस स्थिति की अवहेलना करना चाहें तो दूसरी बात है ।

पू० गुरुदेव ने पूछा - "तो मैं प्रवचन करने नहीं जाऊँ ?"

इस पर श्रीपोद्दारमहाराज ने उन्हें कहा कि आज तो अनेक संभ्रान्त व्यक्ति आपकी प्रतिक्षा कर रहे हैं, उनको निराश करना उचित नहीं है, अत: आज तो प्रवचन कर आइये, पर अब आगे से उपराम हो जायें ।

पूज्य गुरुदेव के लिये श्रीपोद्दारमहाराज का इतना संकेत तो पर्याप्त था । अत: उस दिन का प्रवचन अन्तिम था । अन्तिम प्रवचन होने से वह अतिशय विचारोत्तेजक और भावोद्दीपक था । उसके पश्चात् पू० गुरुदेव ने सर्वथा मौन ले लिया । वे बोलते तो थे ही नहीं, किसी परमावश्यक बात को मात्र स्लेट पट्टी पर लिखकर बता दिया करते थे ।

श्री सेठजी का पुन: साथ रखने का हठ

पू० गुरुदेव चूरू से पू० पोद्दार महाराज के साथ ही साथ रतनगढ़ चले आये। रतनगढ़ में श्रीशान्तनुबिहारी जी द्विवेदी भी सम्पादकीय विभाग में कार्य करने की दृष्टि से आये हुये थे । वे बाद में सन्यासी होकर श्रीअखण्डानन्दजी

सरस्वती के नाम से बहुत ही विख्यात हुए । ये श्रीमद्भागवत के महापंडित थे। श्रीमद्भागवत कथा इन्हें प्राय: कण्ठस्थ थी और सप्ताह कथा में किसी भी श्लोक का कोई अंश भी बिना कहे ये नहीं रहते थे । इन दिनों ये श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी के यहाँ सप्ताह कथा कह रहे थे ।

श्रीसेठजी चूरू ही रुके हुए थे । श्रीसेठजी चाहते थे कि पू० गुरुदेव उनके साथ ही पुन: चलें । श्रीसेठजी ऊपर से भक्ति का पर्याप्त प्रचार करते थे, परन्तु भीतरी मन से वे सर्वोपरितत्व ब्रह्म को ही मानते थे । अत: पू० गुरुदेव में ब्रह्मज्ञान की चौथी, पाँचवी भूमिका का प्रकाश हो ऐसी उनकी शुभाशंसा थी । फिर उनका गीता प्रचार का अतिशय आग्रह था । अत: सेठजी ने क्रमश: अनेक व्यक्ति चूरू से रतनगढ़ पू० गुरुदेव को बुलाने भेजे । पहले एक व्यक्ति आया, फिर दूसरा आया, फिर तीसरा एवं चौथा इस संदेश के साथ आते रहे कि पू० गुरुदेव श्रीसेठजी के साथ ही चूरू से आगे चलें । पू० गुरुदेव तो श्रीगंगा की साक्षी में श्रीपोद्दार महाराज के साथ जीवनव्यापी संबंध जोड़ ही चुके थे । अत: उनके मन में जाने की सर्वथा-सर्वथा रुचि नहीं थी ।

परन्तु एक महासिद्ध सन्त की रुचि को वे कैसे टालें - यह बात भी उनके लिये अति विकट दुविधा उत्पन्न कर रही थी । सन्देशवाहकों को तो पू० गुरुदेव किसी न किसी बहाने टालते रहे । अन्तत: पू० गुरुदेव को साथ ले जाने स्वत: श्रीसेठजी चूरु से रतनगढ चले आये । अब तो पू० गुरुदेव का धर्मसंकट सीमोल्लंघन कर गया । श्रीसेठजी स्वभावत: ही पू० गुरुदेव के लगातार उपेक्षा करने से क्षुब्ध थे । अत: उन्होंने किंचित् रुष्ट भाषा में कहा - 'मैं तो अमुक ट्रेन से प्रस्थान करूँगा ही, चलना हो तो आप आ जाइयेगा । यह कहकर श्रीसेठजी पुन: चूरू प्रस्थान कर गये । पू० गुरुदेव की बुद्धि किंकर्त्तव्य विमूढ़ थी । इस अति दुविधापूर्ण अवस्था में पू० गुरुदेव पोद्दार महाराज के पास गये । उन्होंने अपने मन की सम्पूर्ण उलझन उनके सम्मुख रखी । श्रीपोद्दारमहाराज ने अत्यन्त प्यार से अपनी दोनों हथेलियाँ पू० गुरुदेव के कंठ देश में रखीं और अपने नेत्रों तथा सम्पूर्ण मुद्रा में प्यार की वर्षा करते हुए उनकी दृष्टि में अपनी दृष्टि मिला दी । अहा ! इस प्यार की बलिहारी है । जब भी श्रीपोद्दारमहाराज किसी भी भाग्यवान् प्राणी की ओर इस प्यार सनी मुद्रा में देखते थे, कलेजा ही खींच लेते थे । अति स्नेह सनी वाणी में वे बोले - "मैंने कब चाहा और कब कहा है कि एक बार जब

आपने मेरे साथ रहने का व्रत ले लिया तो किसी भी आग्रह से उसे छोड़ें और जायें ।"

यह सुनना था और पू० गुरुदेव का सभी संकोच, दुविधा, सब संतापराध का भय जाता रहा और पू० गुरुदेव परम प्रसन्न हो गये ।

पू० गुरुदेव की मानसिक उलझन तो दूर हो गयी परन्तु अभी भी उन्हें श्रीसेठजी को सर्वथा नकारात्मक उत्तर देने का साहस नहीं हो रहा था ।

अत: उस सप्ताह कथा को निमित्त बनाकर एक बार श्रीसेठजी को टाल दिया गया । श्रीसेठजी थोड़े रूष्ट होकर चूरू से गोरखपुर एवं तब बाँकुड़ा प्रस्थान कर गये ।

जीवन व्यापी संग में बाधायें एवं सालासर से चिन्मय पुष्प की प्राप्ति

११ मई, १९३९ ई० के मध्याह्न काल से पू० गुरुदेव ने श्रीपोद्दारमहाराज के साथ रहने का आजीवन व्रत ले लिया । यह उनका व्रत अखण्ड रुप से २२ मार्च १९७१ पू० पोद्दार महाराज के महा प्रस्थान तक निर्बाध चलता रहा । इस नियम में एक ही निष्ठा थी कि सूर्योदय से दूसरे दिवस के सूर्योदय के मध्य पू० गुरुदेव को एक बार श्रीपोद्दार महाराज के वृन्दावनधाम रूप पंचभूतात्मक पिंजर के दर्शन अवश्य हो जायें । जिस दिन इस दर्शन में व्यवधान होगा, उस दिन उनका यह व्रत खण्डित हो जायेगा क्योंकि सचल वृन्दावन स्वरूप पोद्दार महाराज उनसे विलग हो जायेंगे ।

इस नियम में अनेक बार बहुत बड़ी-बड़ी बाधाएँ आयीं । यह अनुबन्ध श्रीपोद्दारमहाराज एवं पू० गुरुदेव के मध्य अति गोपनीय था । इसका प्रचार होना तो पोद्दार महाराज को न तो अभिप्रेत था, न ही पू० गुरुदेव को ही। क्योंकि संसार के लोग इसका उपहास भले बनावें, इस निष्ठा की गरिमा का उनका श्रृद्धाहीन मन कल्पना भी नहीं कर सकता था ।

हाँ, पू० पोद्दार महाराज की धर्मपत्नी आदि कुछ अन्तरंग लोगों को अवश्य इसका ज्ञान था । बत्तीस वर्ष के दीर्घ कालमान में इसमें अनेक बार बहुत बाधाएँ आयीं ।

अगणित बाधाओं के आने के उपरान्त भी प्रभु प्रसाद और पू० गुरुदेव की अदम्य निष्ठा के कारण यह संकल्प अखण्ड निर्वाह हो गया ।

पहली बाधा तो गोरखपुर में ही आयी ।

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका गोरखपुर आये हुए थे । श्रीघनश्याम दासजी जालान जो यावज्जीवन सेठजी के दाहिने हाथ के समान अनन्य सहयोगी रहे, उनके ही घर साहबगंज में श्रीगोयन्दकाजी ठहरा करते थे । वहीं वे ठहरे हुए थे । अचानक श्रीसेठजी की तबियत खराब हो गयी । हम आगे भी कह चुके हैं कि श्रीसेठजी के प्रति श्रीपोद्दार महाराज में गुरुभाव था । वे अति उच्च कोटि के सिद्ध सन्त तो थे ही, जयसिडीह में उनके ही सान्निध्य मे पू० पोद्दार महाराज को भगवान् विष्णु के दर्शन हुए थे । श्रीसेठजी अंग्रेजी एलोपेथी की दवायें तो स्पर्श ही नहीं करते थे, आयुर्वेद में भी रसौषधि नहीं लेते थे । वे मात्र काष्ठौषधि ही लेते थे । यद्यपि वैद्यों ने उपचार की बहुत चेष्टा की किन्तु श्रीसठजी की अवस्था बिगड़ती ही गयी । श्रीपोद्दार महाराज मध्याह्न के समय साहबगंज गये थे, सो श्रीसेठजी की अति नाजुक अवस्था के कारण मध्य रात्रि तक नहीं लौटे । इस बात की किसी को भी कल्पना ही नहीं थी कि सेठजी इतने रुग्ण हो जावेंगे और पू० पोद्दार महाराज वहाँ रात्रि पर्यन्त रुके रह जावेंगे । यदि इसका तनिक भी आभास होता तो पू० गुरुदेव पू० पोद्दार महाराज से जाने के पूर्व भेंट कर लेते और उस दिवस का नियम पूरा हो जाता । अब तो यदि सूर्योदय के पूर्व पोद्दार महाराज से मिलन नहीं हुआ तो यह व्रत तो टूट ही जायेगा ।

श्रीसेठजी की रुग्णता से गीता वाटिका में भी सभी का मन अतिशय व्यग्र था । इस व्यग्रता के वातावरण में पू० गुरुदेव से मिलने की बात श्रीपोद्दार महाराज भी विस्मृत कर गये । जब अर्ध रात्रि व्यतीत हो गयी और ब्रह्म मुहुर्त की बेला आ गयी तो पू० माताजी (श्रीपोद्दारमहाराज की धर्मपत्नी) अत्यधिक चिन्तित हो गयीं । उनके मन में पू० गुरुदेव के नियम खंडन से उत्पन्न परिणाम की चिन्ता सताने लगी । वे सोचने लगीं कि पू० गुरुदेव नियम खंडित होने पर हम लोगों का संग त्याग कर वृन्दावन चले जायेंगे । क्योंकि साथ रहने का व्रत तो सूर्योदय होते ही खंडित हो ही जायेगा । पू० माँ अतिशय आकुल हो रही थीं । उन्हें निद्रा कहाँ ?

इस प्रकार चिन्ता करते करते दो-ढ़ाई बज गये । रात्रि के ढाई तीन बजे श्रीघनश्यामदासजी के घर पर पू० पोद्दार महाराज को माताजी ने फोन किया । पू० माँ ने उन्हें पू० गुरुदेव के व्रत का ध्यान दिलाया । श्रीपोद्दार महाराज भी समझ गये कि सूर्योदय होने में मात्र घण्टे डेढ घंटे का विलम्ब

है । मोटर आदि आवागमन का साधन तो उन दिनों था नहीं । घोड़े के इक्के में बैठकर आना-जाना होता था । गीतावाटिका उन दिनों सर्वथा जंगल में ही थी । चतुर्दिक् आम, अमरूद, लीची आदि के घने वृक्षों के बगीचे और कच्चा रास्ता था । इक्के में एक घन्टा तो पहुँचने में ही लग जाता था। गोरखपुर अति पूर्व में होने से वहाँ सूर्योदय पश्चिमी भारत से एक घन्टे पूर्व हुआ करता है । फिर मध्य रात्रि में वाहन (इक्का) सामान्यतया तो उपलब्ध भी नहीं था, किसी वाहन (इक्के) वाले के घर भेजकर उसे निद्रित अवस्था से उठाकर वाहन में घोड़ा जुतवाकर बुलवाना पड़ता, तब गीता-वाटिका (बगीचा) पहुँचने की स्थिति होती । पू० पोद्दार महाराज को, जब कि श्रीसेठजी अत्यधिक रुग्ण हैं, उन्हें छोड़कर ऐसी विषम बेला मध्यरात्रि में गीतावाटिका जाने की ऐसी क्या त्वरा हो गयी है, यह भी श्रीसेठजी के समीपस्थ सामान्यजन के समझ के परे की बात थी ।

फिर भी उन्होंने श्री सेठजी के समीपस्थ लोगों से कहा - "श्रीसेठजी की तबियत अब वैसी चिन्ताजनक नहीं है, मैं एक अति आवश्यक कार्य से तुरन्त ही गीतावाटिका जाना चाहता हूँ ।"

श्री पोद्दार महाराज के मन में संकल्प उत्थित होते ही कोई अचिन्त्य विधान सक्रिय हो उठा । और उस अचिन्त्य विधान के फलस्वरूप श्रीसेठजी की आँखों में निद्रा की खुमारी आना प्रारम्भ हो गया । लोगों ने स्पष्ट अनुभव किया कि सेठजी को झपकी लग रही है । सहज ही मोटर कार भी उपलब्ध हो गयी और पोद्दार महाराज मोटर कार से गीतावाटिका और वहाँ से सीधे पू० गुरुदेव की कुटिया पर पहुँचे ।

श्रीपोद्दारमहाराज और गुरुदेव का वह सजल नेत्र परस्पर मिलन कैसा विशुद्ध रसमय था, इसे तो कोई प्रेम भरा हृदय ही अनुभव कर सकता है । जड़ लेखनी में कहाँ सामर्थ्य है कि उसे भाव दे सके ।

दूसरी घटना रतनगढ़ की है । राजस्थान में सालासर नामक एक स्थान है । यहाँ पर श्रीहनुमानजी महाराज का सिद्ध स्थल है । श्रीसालासर के बालाजी महाराज से ही श्रीपोद्दारमहाराज की दादी ने मान्यता करके बालक 'हनुमान' को प्राप्त किया था और इसीलिये बालक का नामकरण संस्कार भी हनुमान प्रसाद पोद्दार हुआ था । मारवाड़ियों में सालासर के बालाजी महाराज की इतनी मान्यता है कि वे विदेशों से भी बालाजी के सम्मुख बच्चों का केश समर्पण संस्कार करने आते हैं ।

रतनगढ़ से सालासर जाने के लिये सुजानगढ़ होकर जाना पड़ता है। यह दूरी रतनगढ़ से लगभग १०० किलोमीटर रही होगी । श्रीपोद्दार महाराज अनेक मारवाड़ी भाईयों के साथ कार तथा बस से सालासर गये । सुबह नौ-दस बजे वे पू० गुरुदेव से मिलकर गये थे । वे साथ ही यह कह भी गये थे कि सूर्यास्त के पहले-पहले मैं पुनः लौटकर रतनगढ़ आ जाऊँगा । साथ ही हँसकर यह भी कह गये थे कि कहीं कुछ विलम्ब हो जाय तो आप घर छोड़कर सड़क पर मत बैठ जाइयेगा । भवितव्यता ऐसी हुई कि वे सूर्यास्त तक नहीं आ सके । रात्रि के ९-१० बज गये, उनके आने का कोई सुराग ही नहीं था । घर में सभी को बहुत चिन्ता सताने लगी । तरह-तरह के विचार मन में आने लगे । जहाँ भी विशुद्ध स्नेह होता है, वहाँ अनिष्ट की ही आशंका हुआ करती है । श्रीपोद्दार महाराज यद्यपि पू० गुरुदेव को घर से बाहर नहीं बैठने का आग्रह कर गये थे, परन्तु फिर भी उन्होंने मन में यह निश्चय कर लिया था कि मध्यरात्रि तक यदि पोद्दार महाराज नहीं आये तो वे घर से बाहर जाकर राह में बैठ जायेंगे ।

मध्यरात्रि के दस बजे के आसपास श्रीपोद्दार महाराज आये । उनकी मोटर कार रास्ते में खराब हो गयी थी, सुधरवाने में समय लग गया । जैसे ही श्रीपोद्दार महाराज अपनी हवेली पहुँचे, वे सीधे गुरुदेव के पास गये ।

श्रीगुरुदेव तो चिन्तातुर हुए उनकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे । श्रीपोद्दार महाराज ने कहा - "बाबा ! मैं भी आपके ही विचारों में सचिन्त्य उलझा रहा, परन्तु देखिये, मैं आपके लिये एक विलक्षण वस्तु लाया हूँ । ज्यों ही मैंने सालासर में श्रीबालाजी महाराज को प्रणाम किया, उनके द्वारा यह पुष्प अपने आप मेरे हाथों में आ गया । जब से यह फूल मेरी हथेली में आया है तबसे मैं इसे अपनी मुठ्ठी में लिये हूँ । मुठ्ठी में भी इसलिये लिये हुए हूँ कि आपको दे दूँ ।

यह कहकर वह पुष्प श्रीपोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव को दे दिया । वह सर्वथा अप्राकृत पुष्प था । उसकी सुगन्ध बहुत ही विलक्षण थी । पू० गुरुदेव का सम्पूर्ण निवास-कक्ष उसकी भीनी-भीनी सुगन्ध से महक एवं गमक उठा । बड़ी ही मदमाती सुगन्ध थी उसकी । ज्योंही वह पुष्प पू० गुरुदेव ने हाथों में लिया, एक और परिवर्तन हुआ । पू० गुरुदेव के सामने से यह सम्पूर्ण लोक तिरोहित हो गया और चिन्मय, दिव्य वृन्दावन का अवतरण हो गया । जिस स्थिति मे पू० गुरुदेव ने पालथी मारे श्रीपोद्दारजी से वह पुष्प लिया था, उसी

स्थिति में वे मध्यरात्रि के तीन बजे तक लगातार पाँच घंटे बैठे रहे । वे बैठे-बैठे अप्राकृतधाम श्रीवृन्दावन की लोकातीत वनस्थलियों के पुष्प, लता, झाड़ियाँ और पथों की शोभा को देखते रहे ।

सभी ऐसी शोभा बिखेर रहे थे जैसी कभी देखी ही नहीं । सभी एक से एक बढ़कर अभिनव सुन्दर । पू० गुरुदेव उस समय न तो स्वप्न काल में थे, न ही ध्यानावस्था में । वे पूर्णतया जाग्रत थे । परन्तु उसे जाग्रत भी नहीं कहा जा सकता । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही से वह अतीत अवस्था थी। पाँच घंटे पश्चात् पू० गुरुदेव का मन प्राकृत धरातल पर आ सका । यह सब देहातीत स्थिति हुई श्रीपोद्दार महाराज द्वारा पुष्प-दान के पश्चात् । लोग देखकर भी नहीं देख पाते थे कि पू० गुरुदेव के गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज कितने अद्वितीय-शक्ति सम्पन्न थे ।

इसी प्रकार एक बार स्वर्गाश्रम में डालमिया-कोठी में पू० गुरुदेव ठहरे हुए थे । उस दिवस भी श्रीपोद्दार महाराज उनसे बिना मिले हरिद्वार अथवा अन्यत्र चले गये थे । श्रीपोद्दार महाराज की प्रतीक्षा करते-करते सायंकाल होने को आया । श्रीगुरुदेव एवं परिवार के सभी जन सचिन्त्य हो उठे थे। पू० गुरुदेव कोठी से बाहर आकर बाहर दालान में बैठ गये। उस दिवस भी यही निर्णय हुआ था कि मध्याह्नपूर्व यदि पोद्दार महाराज नहीं आये तो गुरुदेव गंगा किनारे चले जावेंगे । सन्ध्याकाल के पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज का फोन आ गया कि वे हरिद्वार से चल पड़े हैं और ऋषिकेश पहुँचने वाले हैं । लगभग रात्रि में ९-१० बजे वे डालमिया कोठी पहुँचे और सीधे पू० गुरुदेव से मिलने गये । दोनों के प्रेम-मिलन के जो द्रष्टा थे, वे ही उस रसभीनी भावभरी प्रीति को छू पाये होंगे ।

शीत सहन की स्पर्धा

श्रीपोद्दार महाराज में अपूर्व सिद्धियाँ थी, परन्तु उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण से ऐसी याचना कर रखी थी कि जगत् के लोग मेरे स्वरूप को जान नहीं पावें । आत्म-महिमा की यथार्थता को छिपाये रखने के लिये वे ऐसा आवरणपूर्ण आचरण कर बैठते थे। अति विषमतापूर्ण व्यवहार उनका स्वतः हो जाता था कि जिससे लोग उन्हें सन्त मानने में ही सन्देह कर बैठते थे। फिर उनके स्थूल कलेवर में साक्षात् भगवान् नन्दनन्दन महारसघनमूर्ति रसराज

अवस्थित हैं, इसकी कल्पना करना तो लोगों के लिये असंभव बात थी। परन्तु सत्य, सत्य का भी परम एवं चरम सत्य यह था कि उनके स्थूल पांच-भौतिक कलेवर का भी पू० गुरुदेव अपने लिये और अपनी बात मानने वाले लोगों के लिये अपरिसीम महत्व मानते थे । पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज की समाधि की चितास्थली की राख को भी उतना ही महत्वपूर्ण समझते थे जैसा महत्वपूर्ण वे उनके स्थूल कलेवर को मानते थे । इन दोनो विशुद्ध प्रेमावतारों में कितना स्नेह था इसका एक प्रसंग यहाँ दिया जा रहा है ।

जाड़े के दिन थे । राजस्थान में रतनगढ, चूरू, लोहारू, आदि स्थान भारत के अतिशय शीत के स्थान माने जाते हैं । जाड़े के दिसम्बर-जनवरी में भीषण शीत लहर चल रही थी । पू० पोद्दार महाराज को रतनगढ़ से दिल्ली जाना था । बीकानेर से दिल्ली मेल रात्रि को लगभग दस बजे रतनगढ़ पहुँचती थी । पू० गुरुदेव के शरीर में रक्ताल्पता थी अतः उन्हें शीत का अतिशय कष्ट रहता था । शीतऋतु में वे प्रायः उबलते गरम पानी की रबर की बोतल रखते थे, तब जाकर उनका शीत रुकता था । ओढ़ने के लिये भी चार-चार बहुत ही गरम कम्बलें रखनी पड़ती थी । यात्रा में कम्बलें तो साथ थी, परन्तु गरम पानी की रबर की बोतल ठंडी हो गयी थी । इधर रेलगाड़ी पूरी तेजी से चल रही थी । पू० गुरुदेव प्रायः ऊपरी बर्थ में सोया करते थे । नीचे की बर्थ पर स्थूल शरीर होने से पोद्दार महाराज रहते थे ।

यद्यपि डिब्बे की खिडकियाँ बन्द थीं, फिर भी शीत इतना अधिक था कि पू० गुरुदेव काँपने लगे । पू० गुरुदेव के पैर तो इतने ठंडे हो गये थे कि जैसे रक्त जम गया हो । श्रीपोद्दार महारज की दृष्टि पू० गुरुदेव की इस दशा पर पड़ गयी । उन्होंने तुरन्त अपनी शुद्ध कश्मीर के पश्मीने के चादर दोहरी तेहरी की और पू० गुरुदेव के पैर और शरीर ढँकने लगे । पू० गुरुदेव ने देखा कि श्रीपोद्दार महाराज भी रूई की रजाई तो साथ लाये नहीं हैं, यदि यह पशमीने की सर्वाधिक गरम चद्दर उन्होने उन्हें ओढ़ा दी तो स्वयं शीत के प्रकोप से रुग्ण हो जावेंगे।

पू० गुरुदेव जरा-जोर से बोले - "यह तो ठीक नहीं, यह सबसे गरम चद्दर यदि आप मुझे ओढ़ा देंगे तो आप क्या ओढ़ेंगे ।"

श्रीपोद्दार महाराज अतिशय वात्सल्य भरे दुलार से बोल उठे - "बाबा ! मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा । मुझ पर इस शीतोष्ण विषम ऋतुओं का कोई प्रभाव नहीं होता इनको सहने का मुझे बहुत अभ्यास है । मैं स्वयं शीत हो

जाऊँगा, फिर शीत, शीत को थोड़े ही पीड़ित करती है । मेरा ये सब कुछ नहीं बिगाड़ सकतें । मैं तो पूर्णतया इनका द्रष्टा हूँ ।"

पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के मातृसम वात्सल्य पर मुग्ध हो गये ।

उन्होने उनके चादर वाले दोनों हाथ प्यार से थाम लिये एवं उत्तर दिया कि "द्रष्टा बनने की योग्यता तो आपकी कृपा से मुझ में भी है ।"

इतना कहकर पू० गुरुदेव ने अपने सब कपड़े उतार दिये और निष्कम्प बैठ गये । फिर कहने लगे - "देखिये । मुझे भी तनिक भी शीत नहीं लग रही । परन्तु अब आप प्यार से जो भी वस्त्र देंगे, मैं ओढ़ लूंगा ।"

श्रीपोद्दार महाराज हँसने लगे । और तब दोनो ही उस रात्रि एक ही सीट पर बैठे बात करते रात काट दिये, और जो भी ऊनी वस्त्र थे, परस्पर ओढ़े रहे । दोनों में कितना सरस प्यार था ।

दोनों-दोनों के लिये सहज सभी कर त्याग
सुखद परस्पर बन रहे छलक रहा अनुराग ।

दौड़ लगानी पड़ी

संसार में बहुत लोग ऐसे होते हैं जिन्हें सन्यास वस्त्र धारण करने मात्र से सर्वमान्यता, सत्कार और पूजा मिलती है, यद्यपि वे उसके सच्चे अधिकारी नहीं है परन्तु पू० गुरुदेव को सच्चे वैराग्य और तीव्र भगवद्भक्ति के उपरान्त भी स्थान-स्थान पर घोर तिरस्कार मिला । यहाँ दो-चार उदाहरण उनके श्रीपोद्दार महाराज के प्रति विलक्षण प्रेम के साथ ही बड़े सेठों के दरबानों द्वारा हुए उनके अपमान के दिये जा रहे हैं । सच्ची साधुता किसे कहते हैं इसे पू० गुरुदेव ने इन प्रसंगों में अपने आचरण से सिद्ध किया है ।

एक बार पू० गुरुदेव श्रीजयदयालजी डालमिया के साथ डेहरी-आन-सोन गये थे । श्रीपोद्दारजी भी वहीं थे । लगभग चार बजे सायंकाल पू० गुरुदेव के घूमने की प्रकृति थी । रतनगढ़ राजस्थान में भी वे चार बजे घूमने चले जाया करते थे । श्रीडालमियाजी से गुरुदेव ने पूछा - यहाँ कोई घूमने लायक स्थान है ? उन्होंने सामने नहर का स्थान बता दिया ।

जिस दिशा की ओर यह स्थान बताया गया था, पू० गुरुदेव उधर ही घूमने चले गये। इधर जिस कोठी में पू० गुरुदेव ठहरे थे वहाँ का दरबान

बदल गया । पहले वाला दरबान तो गुरुदेव को भीतर आता देख चुका था । यह नया दरबान सन्यासीजी से सर्वथा अपरिचित था । ज्यों ही पू० गुरुदेव बाहर से टहलकर लौटे तथा मुख्यद्वार से कोठी में प्रवेश कर रहे थे, त्योंही (नेपाली गोरखा) इस नये दरबान ने पू० गुरुदेव की गर्दन पकड़कर उन्हें अतिअभ्रद्र गाली देते हुए दूर सड़क पर बैठा दिया ।

नेपाली गोरखा दरबान द्वारा ऐसा किये जाने पर भी पू० गुरुदेव के मन में रंचमात्र भी विकृति या ऊँच-नीच का भाव नहीं आया । वही मुसकान जो उनके मुख पर सदा रहती थी, वैसे के वैसे थी । पू० गुरुदेव कोठी के किनारे फुटपाथ पर गन्दे धूलि भरे स्थान पर बैठ गये। सामने से सैकड़ों बैलगाड़ियाँ ईख लादे जा रही थीं । बैलों के खुर की धूलि उन पर पड़ रही थी । लगभग आधा घंटा हो गया । इस अवधि में वह नेपाली गोरखा दो-तीन बार पू० गुरुदेव के पास आया तथा गाली देते हुए कहने लगा - "ऐ साधु ! तू अब तक यहीं बैठा है, हँसता है, जाता नहीं है ।"

जब वह पास आता तो पू० गुरुदेव को अपनी खुखरी दिखाता, मानो पेट में घोंप ही देगा । आधा घंटे बाद श्रीडालमियाजी के विश्वस्त नौकर श्यामा ने पू० गुरुदेव को बाहर सड़क पर बैठे देखा । उसे बहुत ही आश्चर्य हुआ कि ये यहाँ सड़क पर क्यों बैठे हैं ? श्यामा ने जाकर पू० गुरुदेव से कहा - "अरे राम ! यह भी कोई बैठने की जगह है ?"

इतना कहकर वह नौकर पू० गुरुदेव का हाथ पकड़कर कोठी के अन्दर ले गया ? पू० बाबा हँस रहे थे ।

कोठी के अन्दर प्रवेश करते समय पू० गुरुदेव ने एक बार उस नेपाली दरबान की ओर एक नजर फेंक कर देख अवश्य लिया था । उसके तो चेहरे की हवाइयाँ ही उड़ रही थी । कोठी के भीतर दूब का सुन्दर मैदान था । श्यामा ने वहाँ एक सुन्दर सोफा रखकर पू० गुरुदेव को उस पर बैठा दिया । थोडी देर बाद तो डालमियाजी भी आकर दूब में पू० बाबा के चरणों में बैठ गये ।

फाटक पर खड़ा-खड़ा नेपाली गोरखा दरबान यह सब देख रहा था । अब तो उसके होश गुम हो गये । उसको लगा आज बहुत बड़ी गलती हो गयी है । किसी बड़े साधु का मैंने घोर तिरस्कार कर दिया है ।

श्रीडालमियाजी तो थोड़ी देर के पश्चात् चले गये । उनके जाते ही गोरखा दरबान घबड़ाता हुआ पू० गुरुदेव के पास आया । वह उनके पैर

छूकर कहने लगा - "हम आपको पहचाना नहीं, हम अनजाने में गलती किया ?" वह भागकर फिर दरवाजे पर जाता, फिर लौटकर गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करता । वह सोच रहा था कि अब तो मेरी नौकरी गयी ।

अन्त में पू० गुरुदेव ने मौन भंग कर के उसको आश्वस्त किया - "तुम चिन्ता मत करो, घबड़ाओ नहीं, मैं किसी से यह बात नहीं कहूँगा ?"

जब पू० गुरुदेव ने उसे इतना आश्वस्त किया तब वह कहीं शान्त-चित्त हो सका ।

दूसरा प्रसंग दिल्ली का है । पू० गुरुदेव श्रीमथुरानाथजी के यहाँ ठहरे थे। पू० गुरुदेव टहलने के लिये यमुना के किनारे गये थे । जब वे टहलकर कोठी में घुस रहे थे, उस समय पहरेदार ने कड़ककर उनसे पूछा - "कहाँ जाता है ?" पू० गुरुदेव ने उसे विनम्रता से समझाना चाहा । परन्तु वह तो अधिकाधिक कड़क होता जाता था । वह ताकतवर तो बहुत ही था, और पू० गुरुदेव तो सर्वथा दुबले पतले थे ।

पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज की चिन्ता सता रही थी । श्रीपोद्दार महाराज कोठी के बाहर किसी काम से किन्हीं से मिलने गये हुए थे । यदि पू० गुरुदेव को कोठी में भीतर जाने में विलम्ब हुआ तो श्रीमथुरानाथजी, पोद्दार महाराज को फोन कर देंगे कि बाबा यमुना किनारे घूमने गये हैं और अब तक लौटे नहीं है । श्रीपोद्दार महाराज निश्चय ही मान लेंगे कि यमुना दर्शन जन्य किसी विलक्षण अनुभूति में पू० गुरुदेव डूब गये हैं और उन्हें समय-असमय का ध्यान नहीं रहा है । अतएव वे सब काम अधूरा ही छोड़कर पू० गुरुदेव के लिये यमुना के किनारे उन्हें ढूँढने आ जायेंगे । वहाँ भी क्योंकि वे उन्हें मिलेंगे नहीं तो पोद्दार महाराज बहुत चिन्ता में पड़ जायेंगे । पू० पोद्दार महाराज को चिन्ता एवं परेशानी से बचाने का गुरुदेव के पास एक ही उपाय था, कि वे किसी भी तरह कोठी के भीतर प्रवेश पाकर मथुरानाथजी को अपनी उपस्थिति जतला दें । पहरेदार तो बाधक बना ही था ।

मन ही मन पू० गुरुदेव ने एक योजना बनायी । वे दौड़ने में बहुत तेज धावक थे । स्कूल में फुटबाल सेंटर फारवर्ड की हैसियत से खेलते थे । उन्होंने मन ही मन तोल लिया कि यह पहरेदार भले ही ज्यादा ताकतवर है, परन्तु मैं दौड़ने में तो इससे इक्कीस पड़ूंगा ही । हल्के शरीर के कारण यह

मेरी स्फूर्ति को नहीं पा सकेगा । बस, उन्होंने ज्यों ही पहरेदार थोड़ा असावधान हुआ तपाक से कोठी के भीतर दौड़ लगायी ।

पू० गुरुदेव को कोठी में घुसते देखकर पहरेदार लाठी लेकर उनके पीछे दौड़ा । आगे गुरुदेव और पीछे पहरेदार । पू० गुरुदेव इतना तेज दौड़ रहे थे कि पहरेदार थक गया था । पहरेदार पहुँचे इसके बहुत पहले गुरुदेव मथुरानाथजी के पास पहुँच गये थे । उन्होने पू० गुरुदेव के भागने का कारण जानना चाहा । परन्तु गुरुदेव ने हँसकर टाल दिया ।

तब तक वह पहरेदार भी पहुँच गया । उसने मथुरानाथजी से पूछा - ये साधु कौन है ? सेठजी ने उत्तर दे दिया कि ये अपने ही घर के महात्मा हैं । वह पहरेदार मुँह लटकाकर वापस चला गया ।

वास्तव में सच्चा सन्त वही है जिसमें मान-अपमान का भाव सर्वथा ही मिट गया हो । मान-अपमान में उलझा प्राणी तो आस्तिक कहलाने लायक भी नहीं है । यह जो शरीर रूपी पांचभौतिक आवरण है, जब तक हम इससे पृथक नहीं होते, तब तक उस दिव्य भाव-राज्य में हमारा प्रवेश हो ही कैसे सकता है ?

चूरू में एक पंजाबी सन्त

सन्तजी का शरीर रावलपिण्डी का था । अति सुन्दर गौरवर्ण एवं सुगठित देह । वे रतनगढ़ में उन्हीं दिनों जब पू० गुरुदेव भी पू० पोद्दार महाराज के पास रतनगढ़ ही रह रहे थे, पू० गुरुदेव से ही मिलने के उद्देश्य से लगभग ढाई वर्ष रहे । वे ब्यावर से आये थे । ब्यावर में ही उन्हें अजमेर के सन्त सनम साहब के किसी परिचित से पू० गुरुदेव के संबंध में जानकारी मिली थी। गुरुदेव पू० पोद्दार महाराज की मस्से की बीमारी में आपरेशन के लिये अजमेर गये थे ।

वे रतनगढ़ में आकर पू० गुरुदेव से मिलने के उद्देश्य से ग्राम के बाहर रहने लगे । नगर में वे केवल भिक्षा करने आते थे । उनके भिक्षा करने शहर में आने के समय पू० गुरुदेव एकान्त में अपने कमरे में रहते थे । पू० गुरुदेव सायंकाल शौच जाने के समय ही अपने साधना कक्ष से बाहर आते थे, या भिक्षा के समय उन्हें पुकार कर बुलाया जाता था । प्रायः सायंकाल ही वे किसी से मिलते-जुलते थे । लगातार ढाई वर्ष प्रयत्न करने पर भी जब पू० गुरुदेव से उनका मिलन नहीं हो सका तो वे निराश होकर चूरू चले गये।

प्रभु को तो उनसे मिलना ही था । अत: श्रीपोद्दार महाराज के साथ पू० गुरुदेव का भी चूरू जाना हो गया । श्रीपोद्दार महाराज ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव में चूरू आये थे । एक दिवस सायंकाल शौच के लिये पू० गुरुदेव ब्रह्मचर्याश्रम से बाहर निकले । रेलवे के किनारे-किनारे वे रेत के धोरों की ओर बढ़ रहे थे । उधर ही कलकत्ते के सेठ लोग जो चूरू निवासी ही थे, खड़े थे, वे पू० गुरुदेव से वार्ता करने लगे ।

वे पंजाबी संत भी अदृष्ट की प्रेरणा से कुछ दूरी पर रेत के टीले में ही बैठे थे । उनके मन में भगवत्प्रेरणा से यह बात आयी कि अवश्य ही ये वही सन्त हैं जिनसे मिलने वे ढाई वर्ष रतनगढ़ रहे और मिल नहीं पाये । वे जल्दी-जल्दी चलकर पू० गुरुदेव के पास आये और एक ओर खड़े हो गये । उनकी आँखों का रंग भूरा था । उन्होने अवसर पाकर व्रजभाषा में पू० गुरुदेव से पूछा - "कहा, तुम मुझसे नायँ मिलोगे ?" उनकी व्रजभाषा में भी पंजाबी का पुट था । पू० गुरुदेव उनकी ओर उन्मुख हुए । उन्होंने अपने ढाई वर्ष रतनगढ़ ठहरने का सारा विवरण बताया । वे किस प्रकार कितनी ही बार मिलने आये, परन्तु मिलन हो नहीं पाया । पू० गुरुदेव ने उनसे अपने ठहरने का स्थान पूछा तो पता चला कि वे ऋषिकुल के समीप ही ठहरे हुए थे । पू० गुरुदेव ने कहा कि इस समय तो संध्याकाल हो रहा है और गुरुदेव को शौचक्रिया करने जाना भी है, दूसरे दिवस उनके निवास पर ही गुरुदेव ने मिलने का निर्णय किया ।

दूसरे दिन पू० गुरुदेव उनके निवास पर गये । उन सन्त ने अपना वृत्तांत पू० गुरुदेव को सुनाया । एक प्रसिद्ध मण्डलेश्वरजी से उन्होंने सन्यास की दीक्षा ली । सन्यास के पूर्व वेदान्त का विचार भली प्रकार चलता ही था। परन्तु ज्यों ही सन्यास की दीक्षा ली, त्योंही उनके मन में यह चाह जाग उठी कि भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन कैसे हों ? उन्होने सोचा वृन्दावन भगवान् की लीला-भूमि है वहाँ संभव है दर्शन मिल जावें । सन्यास के पश्चात् वे अपने गुरु से वेदान्त ग्रन्थ पढा करते थे । एक दिवस उन्होने अपने गुरुजी से कहा - "मेरी इच्छा वृन्दावन जाने की हो रही है।" इस पर गुरुजी ने कहा - "खाने कमाने लायक तो बन जाओ ?"००

यह सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही हँसी आयी । एक ओर तो वेदान्त का विचार और दूसरी ओर शरीर की इतनी चिन्ता ? अस्तु, फिर वे पू० गुरुदेव को आगे का वृत्त बताने लगे । वे कुछ दिन शान्त रहे । परन्तु मन

नहीं माना । कुछ समय पश्चात् उन्होने गुरुजी से फिर बात चलायी । परन्तु बात नहीं बनी । जब उनसे नहीं ही रहा गया तो उन्होंने अपने गुरुजी से कहा - "यदि आप आज्ञा नहीं देंगे तो मैं भाग जाऊँगा ।"

तब गुरुजी ने रोष में महा - "इसकी टिकट कटा दो ।"

इसी को गुरुजी की आज्ञा मानकर वे चलने को तत्पर हो गये । उनके लिये मथुरा तक की टिकट कटाकर के दे दी गयी थी । टिकट कटाकर इसीलिये दे दी गयी थी कि वे पैसा का स्पर्श नहीं करते थे । उनके लिये ब्रजभूमि एकदम नवीन स्थान थी । वे भतरौड़ के पास आये । भतरौड़ था एक दम जंगल, जनशून्य प्रदेश । वहाँ जमुनाजी में स्नान किया और उस जनशून्य स्थान में एक पेड़ के नीचे आसन लगाकर वे बैठ गये । उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि अब तभी खाऊँगा जब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आकर खिलायेंगे । शरीर इतना अशक्त हो चुका था कि अब तो जल के लिये एवं शौच-स्नान के लिये यमुना तक जाना भी असंभव सा हो गया था । जीवित रहने की आशा छूटने लगी । वे अपने व्रत पर अड़िग थे । शरीर तो एक दिन जायेगा ही । अब शरीर को जब जाना हो जाये, भोजन तो तभी होगा जब श्रीकृष्ण आकर खिलायेंगे । ऐसा करते-करते पन्द्रह दिन व्यतीत हो गये। सोलहवें दिन उनके कानों में घन्टी की आवाज सुनायी पड़ी ।

उन्होंने देखा चार गायें पास ही चर रही हैं । परन्तु वे गायें भी अद्भुत थीं । ऐसी गायें पहले उन्होने कभी देखी नहीं थीं । विशालकाय, हाथी की तरह गायें थीं । बड़ी ही सुन्दर, अति सुडौल और उनके कण्ठों में बँधी घंटी का रव इतना सुमधुर था मानो वीणा-ध्वनि कर रही हो । गायें एक ओर से आयीं और उनके सामने से निकल गयीं । परन्तु एक गाय उनकी ओर बढ़ी। उनको ऐसा लगा कि यह गाय उन्हें सींग से मारेगी । यद्यपि शरीर अशक्त था परन्तु भय ने शरीर को इतना सशक्त कर दिया कि वे चट से एक सघन झाड़ी में जा घुसे । झाड़ी के काँटों से शरीर छिद गया । वहाँ सर्प का भी भय था । परन्तु गौ से वहीं रक्षा संभव थी । वह गाय चली गयी । अब वही सन्नाटा, वही जनशून्यता । दूसरे दिवस फिर गायें चरने के लिये आयीं । आज उनके साथ आठ-नौ वर्ष का एक बालक भी था । श्यामलवर्ण, सुन्दर शरीर, सलोना रूप, घुँघराले केश । उस बालक ने पूछा - क्यों बाबा ! दूध पीयोगे ? उस बालक को देखकर उनको सबकुछ यहाँ तक कि अपना व्रत भी भूल गया । उसके पूछने पर उन्होंने गर्दन हिलाकर स्वीकृति दे दी । उस

बालक ने एक लोटा दूध दिया । वे दूध पीने लगे । दूध भी अद्‌भुत स्वाद था । अद्वितीय मधुर था । उस बालक ने पूछा - "बाबा ! अब मैं जाँऊ ? नहीं तो मेरी गायें बिदक जायेंगी ।" उस साधु ने पूछा - "इस लोटे का क्या करूँगा ?" उस बालक ने हँस कर कहा - "यह लोटा यहीं रख देना, मैं आकर ले जाँऊगा ।"

उस साधु ने जाने की अनुमति दे दी । बालक चला गया । जब लोटे में एक-दो घूंट दूध रह गया तब उन्हें ध्यान आया कि अरे ! ये तो श्रीकृष्ण थे । अब तो वहीं लोटा रखकर उनको खोजने के लिये इधर-उधर गये। परन्तु न तो वह बालक ही मिला न उसकी वे गायें ही मिलीं । तब लोटा देखने पुनः उस स्थान पर आये तो जहाँ लोटा रखा था, वहाँ लोटा भी नहीं था। तब उनके मन में एक ऐसी गहरी हूक उठी एक विलक्षण अननुभूत व्यथा उठी कि दोनों हाथों की मुठ्ठी से अपनी छाती को मार-मारकर वे जोर-जोर से बुरी तरह रोने लगे । जब कुछ भाव शान्त हुआ तो वे थोड़ी दूर पर स्थित गाँव मतरौड़ में आये । वे एक स्थान पर बैठे थे । गाँव की एक गोरी बालिका, जो कमरतक घाघरी पहने थी, और जिसके मुख पर अतिशय भोलापन था उनके पास आयी और उनसे पूछने लगी - "बाबाजी ! रोटी खाओगे ?

बाबाजी ने "हाँ" कर दी । उस बालिका ने अपने हाथ में रखी रोटी खाने को दे दी और साथ में यह भी कहा कि जब मन हो, आकर खा जाया करो । मैं उस मन्दिर में रहती हूँ । अब मैं जाती हूँ । देर होने से मैया नाराज होगी ।

वह बालिका चली गयी । रोटी खाने के बाद वे उस बालिका का घर देखने के लिये गये । घर पर आकर घर के लोगों से पूछा - "आपकी बिटिया कहाँ है ?" घर के लोगों ने कहा - "हमारे तो कोई बेटी ही नहीं।" साधु बाबा ने कहा - "अभी मुझ को रोटी दी है ? तथा जब चाहे तब आकर ले जाने को कहा है ।" घर वालों ने वही बात दुहरादी - "हमारे तो कोई लाली नहीं है ।" तब साधुजी को चेत हुआ कि स्वयं राधारानी आयी थीं। अब तो इनकी वेदना की सीमा ही नहीं रही । न तो भगवान् श्रीकृष्ण को पहचाना, न ही राधाजी को । वे एकान्त में खूब रोये । ब्यावर में एक पं० रामप्रसादजी थे । उससे उन्होंने पूछा था मैं किसका जप करूँ । उन्होने एक कृष्ण मंत्र बता दिया था । अन्त समय तक उसी मंत्र का जप करते रहे ।

रात को तीन बजे से दुपहरी १२ बजे तक वे उसी मंत्र का जप करते थे। समुदाय में बैठकर वे वेदान्त का ही उपदेश करते थे । यह इसीलिये कि लोग उनके भीतर की वस्तु नहीं जान पायें । आत्मगोपन सन्तों का विलक्षण स्वभाव ही होता है ।

गुरु शिष्य में अभूतपूर्व वात्सल्य

गुरु एवं शिष्य के मध्य कितना आत्मीयतापूर्ण संबंध होता है इसकी झाँकी बिरले भाग्यवान् व्यक्तियों को ही हो पाती है । हमारी जागतिक दृष्टि को मात्र मोह के सम्बन्ध ही देखने को मिलते हैं । मोहान्ध हुए हम पुत्र-पुत्रियों, सगे-सम्बन्धियों, भाई-बहनों में ही अपनत्व ढूँढते हैं, जिनमें मात्र स्वार्थ भरा रहता है, इनमें परमार्थ की छाया भी नहीं होती ।

गुरु, शिष्य को अपना सर्वस्व दान करके परमार्थ की सीढ़ियाँ चढ़ाता है पद-पद पर उसकी रक्षा करता है, उसे भयंकर विपत्तियों से बचाता है, उसके घोर कष्टदायी कर्मों को स्वयं भोगता है और उसे एकांगी विशुद्ध प्यार करता हुआ उसके चित्त को शुद्ध करता है । और उसे पूर्ण योग्य बनाकर अपनी संपूर्ण पारमार्थिक निधि सौंप देता है ।

पू० पोद्दार महाराज ने गुरुरूप में पू० राधाबाबा (गुरुदेव) से कैसे खेल किये हैं, इसके दो चार उदाहरणों के रूप में झाँकी यहाँ दे रहा हूँ । यह प्रथम घटना तो सन् १९३६ ई. की गोरखपुर की ही है । पू० पोद्दार महाराज के साथ गुरुदेव स्थायी रूप से रहने को आ गये थे । वे गीतावाटिका में ही पीछे कुटिया में रहते थे ।

पू० गुरुदेव आये ही थे । उनके पास वस्त्राभाव था । वे किसी से कुछ माँगते तो थे नहीं, उनके अग्रज भ्राता ही अपने आप कपड़ा जो भी दे देते थे, वहीं पहन लेते थे ।

हाँ, तो किसी ने पोद्दार महाराज को सूचना दे दी कि गुरुदेव का अधोवस्त्र घुटनों से भी ऊँचा रहता है और यह गृहस्थ परिवार में रहने पर मर्यादानुकूल नहीं है, अतः उन्हें नवीन वस्त्र दिया जाय । पू० गुरुदेव शुद्ध खादी के वस्त्र पहनते थे और सन्यास की मर्यादानुसार सिले वस्त्र भी नहीं पहनते थे । श्रीपोद्दार महाराज भी खादी के वस्त्र ही पहनते थे । जब

श्रीपोद्दार महाराज को उपरोक्त सूचना दी गयी तो उन्होंने अपनी पहनी हुई धोती यह कहकर गुरुदेव के पास भेज दी कि मेरे पास नवीन वस्त्र तो हैं नहीं, यह धोती मात्र एक बार ही पहनी हुई है।

प० पू० गुरुदेव के पास जब श्रीपोद्दार महाराज का सन्देश वाहक यह पहनी हुई धोती लेकर आया तो एक बार तो पू० गुरुदेव स्तब्ध रह गये । एक वैश्य गृहस्थाश्रमी एक ब्राह्मण सन्यासी को पहना हुआ कपड़ा दे, पू० गुरुदेव के लिये यह कल्पनातीत बात थी । वे किंकर्त्तव्य विमूढ़ हुए खड़े थे । इसी समय पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके आराध्य श्रीकृष्ण प्रकट हो गये । उनके नेत्रों में अति विनोदभरी मुसकान व्यक्त हो उठी । श्रीकृष्ण गुरुदेव को स्पष्ट आदेश दे रहे थे - "इसे लौटाना मत, अन्यथा पोद्दार महाराज द्वारा दी हुई सम्पूर्ण पारमार्थिक निधियाँ भी लौटकर इस वस्त्र के साथ ही चली जायेंगी। यह वस्त्र असाधारण परमार्थ से भरा है । इसे मेरे पीताम्बरवत् महत्वपूर्ण समझना । इसमें अलौकिक प्रीतितत्व निहित है ।"

पू० गुरुदेव अपने इष्ट का यह आदेश सुनकर शान्त हो गये । उन्होंने पू० पोद्दार महाराज का वह अधोवस्त्र प्रसाद अपने मस्तक पर लगाया । और उसे पूजा में एक तरफ रख दिया ।

इसी प्रकार एक दिवस वे वस्त्र धोने का मन बना रहे थे । पू० गुरुदेव ने इसे स्वप्न कहकर सुनाया था। परन्तु उनके कथनानुसार कपड़े धोने की क्रिया तो सदा दिन में ही होती है, रात्रि में तो होती नहीं और दिन में पू० गुरुदेव कभी भी सोये हों, ऐसा देखने में नहीं आया, फिर दिवा स्वप्न बिना सोये गुरुदेव ने कैसे देख लिया, यह मन में पूरी बात जमीं नहीं थी । श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी से पूछकर जब संनिधि बैठानी चाही तो यही निर्णय हुआ था कि यह सूक्ष्म देह की लीला रही होगी । जो हो, श्रीपोद्दार महाराज पू० गुरुदेव के पास आये । वे बोले - "स्वामीजी क्या कपड़ा धोने जा रहे हैं ?" पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "माह में मात्र एक दिवस कपड़े धोता हूँ एवं रँगता हूँ ।" श्री पोद्दार महाराज तपाक से बोले - "आपके कपड़े आपसे धुलेंगे नहीं, और धो लेंगे तो आप रंग तो सर्वथा पावैंगे नहीं, मैं धोकर रंग दूँगा ।" और पू० गुरुदेव से उन्होंने कपड़े छीन लिये और धोने एवं रँगने लगे । पू० गुरुदेव सचकित थे । एक बार उनके मन में आया कि पोद्दार महाराज से कपड़े छीन लें, परन्तु वे धोते-रँगते जा रहे थे और बहुत ही मधुर मुसकाती अपांग दृष्टि से उनकी ओर देखते जाते थे । वह उनकी दृष्टि ऐसी मधुर

होती थी कि गुरुदेव मुग्ध हो जाते थे । उन्होंने सारे कपड़े धोये, रँगे और तब सुखाकर चले गये ।

इसके पश्चात् पू० गुरुदेव कह रहे थे कि मेरे चित्त में मुझे जो अप्राकृत पवित्रता भरी दिखी और ऐसा विलक्षण प्रेमोद्दीपन हुआ वह अवर्णनीय है ।

यहाँ पू० पोद्दार महाराज का एक और महान् आत्मत्याग का प्रसंग लिख रहा हूँ ।

सं० २००० वि० तदनुसार सन् १९४३ ई० में श्रीपोद्दार महाराज बवासीर रोग से बहुत ही अधिक बीमार हो गये। उनको चारपायी पकड़ लेनी पड़ी । रोग की भीषणता देखकर श्रीपोद्दार महाराज को चिकित्सार्थ दिल्ली ले जाया गया । परन्तु रोग तो घटने के स्थान पर बढ़ता ही जा रहा था । रोग इतना बढ़ गया था कि बचने की भी आशा क्षीण, क्षीणतर होती जा रही थी । स्थिति की ऐसी गंभीरता थी कि लोग अन्तिम बार दर्शन करने एवं मिलने के लिये आने लगे । इसी बीच डा० अम्बालालजी को अजमेर दिखाने की भी बात हुई । श्रीपोद्दार महाराज को लोग इलाज के लिये अजमेर ले आये । पू० गुरुदेव तो साथ में थे ही । डा० अम्बालालजी की चिकित्सा से श्रीपोद्दार महाराज को लाभ हुआ और उनके स्वास्थ्य में सुधार दिखने लगा ।

गुदा का घाव ठीक हो जाने पर श्रीपोद्दार महाराज अजमेर से पुनः रतनगढ़ आ गये । इस बीच अनेक सप्ताहों तक उनका स्वास्थ्य सामान्य रहा। तीन माह पश्चात् बवासीर का रोग पुनः उभर पड़ा । उसके भीषण रूप को देखकर पुनः लोगों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था । श्रीपोद्दार महाराज को पुनः अजमेर ले जाया गया। डा० श्रीअम्बालालजी के चिकित्सालय में गुदा के फोड़े का आपरेशन हुआ । आपरेशन सफल रहा । इन दिनों पू० पोद्दार महाराज को बहुत ही भीषण कष्ट उठाना पड़ा । स्निग्ध पदार्थ का प्रयोग करने के पश्चात् भी बहुत ही कष्टदायक स्थिति में मलद्वार से मल उतर पाता था ।

इस भीषण कष्ट में भी श्रीपोद्दार महाराज का मन स्वस्थ था । कैस्टर आयल से शौच कराया जाता था । परन्तु तब भी दर्द भीषण रहता था । बेचेनी भी बहुत होती थी ।

गुदा का घाव ठीक हो जाने पर श्रीपोद्दार महाराज को अजमेर से रतनगढ़ लाया गया । धीरे-धीरे रोग चला गया। विगत ६-७ मास तक वे

सीमातीत रूप से कष्ट पाये थे । परन्तु अब उनका स्वास्थ्य सामान्य हो गया था ।

एक रात्रि की बात है पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज की हवेली में अपने कक्ष में ध्यानस्थ बैठे थे । लगभग मध्यरात्रि का समय था । पू० गुरुदेव के आराध्य तो उनके साथ थे ही । उस समय उन्होने पू० गुरुदेव से कहा कि यह तो तुम्हारा ही कष्ट था जो श्रीपोद्दार महाराज ने अपने ऊपर लेकर भोग लिया । यह सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही दु:ख हुआ । पू० गुरुदेव इस रुग्णता की अवस्था में छाया की तरह उनके साथ थे । श्रीपोद्दार महाराज का पल-पल तड़पने का एक-एक दृश्य पू० गुरुदेव के स्मृतिपथ पर उभर-उभरकर आने लगा। श्रीपोद्दार महाराज की व्यथा की स्मृति करके पू० गुरुदेव छटपटा गये । "मेरे इतने भीषण कष्ट को इन्होंने अपने पर झेल लिया" - यह सोचते-सोचते कृतज्ञता के भाव से उनकी आँखों मे अश्रु छलक आये थे । इस अवस्था में उन्हें निद्रा आने का तो प्रश्न ही नहीं था । अकुलाहट के मारे रात्रि युगों के समान लम्बी हो गयी थी वह काटे ही नहीं कट रही थी । पू० गुरुदेव व्यथा और कृतज्ञता के बोझ से तो दब ही गये थे, परन्तु उनके हृदय में एक आश्चर्य भी था । वे विचार कर रहे थे - "अहा ! ये कैसे आत्मसंगोपन प्रिय महापुरुष हैं ! इन्होंने किसी भी स्वजन को, सेवा-परायण किसी सेवक को, अपने प्राणोतम मित्र साथियों को, सहयोगियों को, किसी को भी गन्ध भी नहीं लगने दी कि यह कष्ट उनके द्वारा किसी दूसरे का लिया है। उनका यह शीलयुक्त व्यवहार अपने निजजन के आत्यन्तिक हित करने की कैसी उच्च भावना का द्योतक है । इतनी उच्च त्यागमयी क्रिया और वह भी इतने गुप्त रूप से किसी भी स्वजन, सम्बन्धी, मित्र, सहयोगी एवं गुरुजन को भी आभास तक नहीं मिले, वाह ! क्या उच्च चरित्र है ? यदि किसी को इसकी गन्ध भी लग गयी तो जिसके प्रति इतना त्याग किया गया है, वह तो आभार से ही दब जायेगा, फिर तो किया कराया ही किर-किरा हो जायेगा - ऐसी सदाशयता का सजीव उदाहरण कहाँ देखने-सुनने को मिलता है ?" पू० गुरुदेव निशापर्यन्त कभी व्यथा, कभी कृतज्ञता, कभी दैन्य, कभी आश्चर्य, इन्हीं प्रकार के अनेक भावों में अभिभूत हुए करवटें बदलते रहें। निद्रा का तो प्रश्न ही नहीं था । बड़ी ही कठिनाई से पू० गुरुदेव की वह रात्रि किसी प्रकार व्यतीत हुई ।

प्रात: शौच-स्नान से निवृत्त होकर पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के पास गये । श्रीपोद्दार महाराज अपने सम्पादन कार्य में व्यस्त थे । वे सम्पादकीय लेखों को छपने के लिये ठीक कर रहे थे । पू० गुरुदेव के आते ही श्रीपोद्दार महाराज ने उनको स्नेह सम्मानपूर्वक बैठाया । फिर बोले - "कहिये, आज एक दम सबेरे-सबेरे कैसे आये ?"

पू० गुरुदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण का नाम छुपाकर शालीन भाषा में कहा - "मुझे ऐसा अनेक कारणों से ज्ञात हुआ है कि आपने जो बवासीर का भीषण कष्ट पाया है - वह आपने अपने शरीर पर मेरा कष्ट झेला है एवं इसी के परिणाम स्वरूप आप सात माह तक मरणान्तक रुग्ण रहे हैं ।"

पू० गुरुदेव के इतना कहते ही श्रीपोद्दार महाराज अग्निशर्मा बन गये । उन्होंने अपनी अति रोषपूर्ण मुद्रा बना ली । एवं पू० गुरुदेव को झिड़कते हुए कहने लगे - "क्या कभी ऐसा हो सकता है ? क्या यह संभव है कि एक व्यक्ति दूसरे का कष्ट अपने पर ले ले । ऐसा कहीं आपने देखा है ? आपको बैठे-बैठे यही व्यर्थ की बातें सूझती रहती हैं । मैं तो आपको विवेकशील, प्रबुद्ध, प्रज्ञाशील महात्मा समझता था । आप अपने एकान्त में ये ही ऊल-जलूल व्यर्थ-चिन्तन एवं प्रमाद करते रहते हैं ?"

वास्तविकता को गोपनीय बनाने के लिये उस दिन श्रीपोद्दार महाराज ने जो नाटकीयता की और पू० गुरुदेव से जैसा रोषपूर्ण व्यवहार किया वह देखने लायक ही था । इस प्रकार बुरी तरह से झिड़के जाने से पू० गुरुदेव एक बार तो स्तब्ध ही हो गये । श्रीपोद्दार महाराज अपने आवेश में अनर्गल बोलते रहे, और पू० गुरुदेव चुपचाप सुनते रहे । श्रीपोद्दार महाराज समझ रहे थे कि गुरुदेव उनके रोष में आ गये हैं और बात दबी की दबी रह जायगी।

परन्तु पू० गुरुदेव भी पूरे घुटे हुए गुरु घंटाल थे । वे कुछ क्षण तो चुप रहे फिर वे भी अति रोष का नाटक करते हुए कहने लगे - "देखिये ! यह आपका सम्पादकत्व मेरे पर नहीं चलेगा ? विश्व में कोई शक्ति नहीं जो मेरी बात काट सके । मैं निराधार नहीं बोल रहा हूँ । मेरे पास अकाटय प्रमाण हैं । मैं आपकी आँखें दिखाने के लपेट में आने वाला नहीं हूँ । इस धौंस पट्टी से आप मुझे भ्रम में नहीं रख पावेंगे ?"

अब श्रीपोद्दार महाराज समझ गये कि पू० गुरुदेव के कथन में मात्र भावनाजन्य अनुमान ही नहीं है । अपितु पर्याप्त ठोस दम है ।

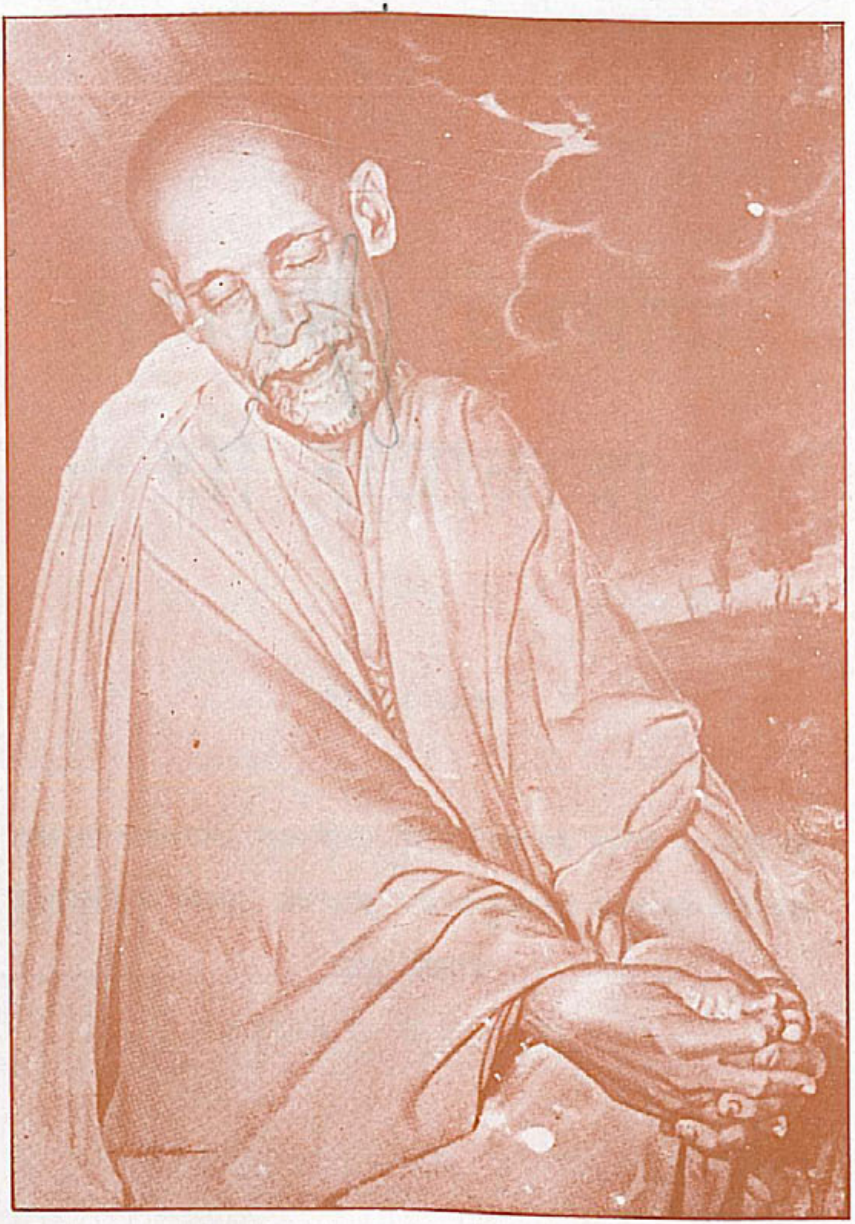

गहन ध्यानावस्था मे पुज्य राधा बाबा

महाभाव दिनमणि
श्री राधाबाबा

तीसरा भाग

पाँच सौ शब्दावली, गुरु-दीक्षा, भावजीवन का प्रारंभ भगवती श्री राधारानी से मिलन, अष्टयाम, एवं मंजुश्यामा भाव की मधुरतम अन्य लीलायें

सन् १९४० ई० से १९४३ ई० तक

वे हवा में नहीं बोल रहे हैं । इनके पास ठोस तथ्य हैं ? अवश्य ही श्रीकृष्ण ही इनके सामने यह रहस्य खोल चुके हैं । अब जब सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ही पर्दा खोलेंगे तो वे कैसे उसे अप्रकट रख पावेंगे ? श्रीपोद्दार महाराज का रोष तिरोहित हो गया । वास्तविक रोष तो उनमें था ही नहीं । वह तो मात्र कृत्रिम आवरण था जो उन्होंने अपनी चेष्टा से स्वीकार किया था। उनके नेत्र प्यार से छल-छला आये उन्होंने ठीक समझ लिया था कि उनका शिष्य अब इतना समर्थ हो गया है कि उससे अब छल-दुराव वे कर ही नहीं पावेंगे । उन्होंने अपने हाथ की कलम रख दी । अपनी दोनों हथेलियों को पू० गुरुदेव के कंधो पर रखकर वे अतिशय प्यार से बोले - "क्यों क्या आप और मैं दोनो भिन्न हैं क्या ?"

पहले केवल पू० गुरुदेव के नेत्र सजल थे और अब चार नेत्र आँसुओं से भीगे थे । दो हृदय प्यार में एक दूसरे पर न्यौछावर हो रहे थे । पू० गुरुदेव मीलित-नयन, मूक-अधर, अचल-अंग, निष्पंद बैठे रहे । प्यार कैसी अनमोल वस्तु है । परस्पर कितना त्याग है, कैसा विलक्षण समर्पण है, क्या वाणी में सामर्थ्य है कि निर्वचन कर सके ? कदापि नहीं । कदापि नहीं ।

ऐसे प्यार भरे थे गुरु शिष्य दोनों

नैसर्गिक वत्सलता का रस कितना मीठा सच है प्रियतम।
जैसे पिंजर को कम्पित कर तुमने दिखलाया था प्रियतम।।
उसका भी है इतिहास बड़ा सुन्दर शुभ सुखदायी प्रियतम ।
है किन्तु नहीं अवकाश यहाँ, फिर गोपनीय भी है प्रियतम ।।

इस मायामय निसर्ग में भी वात्सल्य का रस गुरु शिष्य में कितना मधुर एवं उच्च कोटि का प्रवाहित होता है, यह सत्य तुमने पिंजर को कम्पित कर अर्थात् पोद्दार महाराज रूप शरीर को रुग्ण करके दिखलाया था । उसका इतिहास भी कितना सुन्दर है, शुभ है एवं सुखदायी है, परन्तु वह अति गोपनीय है और उसे कहने का यहाँ अवकाश ही कहाँ है ?

(यह चौपदा जिस इतिहास को संकेत कर रहा है वह इतिहास ऊपर लिख दिया गया है)

ब्रजभाव की गंभीर साधना का प्रारंभ

श्रीपोद्दार महाराज के साथ निर्बाध नित्य निवासने पू. गुरुदेव को रसोपासना में गंभीरतापूर्वक उन्मुख होने के लिये परम अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण कर दिया था। जब तक पू० गुरुदेव श्रीमद्भगवद्गीता की टीका में व्यस्त रहे रस साधना की ओर प्रवृत्त होने के लिये उनके समक्ष उपयुक्त वातावरण था ही नहीं।

वे सदा ऐसे लोगों के मध्य रहते थे जो एक प्रकार से रसिक तो थे ही नहीं, पूरे रस-अनभिज्ञ थे। ऐसे लोगों का अनवरत संग और वेदान्त के विचारों की ही निरन्तर आवृत्ति से पू. गुरुदेव का रस-मसृण मन बहुत ही घबड़ाता था।

प० पू० गुरुदेव सबके सन्तोष के लिये यथासाध्य अपनी आन्तरिक भावनाओं को पूर्णतया गोपन रखते, सबके साथ हिलमिल कर उनकी रुचि के अनुसार ही बोलते, व्यवहार करते, प्रवचन करते। परन्तु उनका भीतरी रस-भाव दबते-दबते कभी-कभी विलक्षण ढ़ंग से फूट पड़ता। उस अवस्था को लोग गुरुदेव की बालोचित चंचलता ही मान बैठते थे।

अब तो इन सभी परिस्थितियों का पूर्णतया अन्त ही हो गया था। प्रवचन का सर्वथा त्याग होकर उन्होंने मौन ले लिया था, और अनवरत नाम-साधना अठ्ठारह घंटे चल रही थी। यहाँ तक कि कभी-कभी पू. गुरुदेव को शौचालय में भी नामजप करते रहना पड़ता था तब उनका तीन लाख नामजप पूरा हो पाता।

प० पू० गुरुदेव के मन से अहंकार-ममता, आशा-तृष्णा भोगों की वासना-कामना तो सब मिट गयी थी। समस्त द्वन्द्वों - सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, जय-पराजय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, मेरा-तेरा, मैं-तू आदि का भेद मिटकर, सदा सर्वत्र समत्व और शान्ति से उनका चित्त भरा था। उनकी चित्त एवं अन्तःकरण की पट्टी सर्वथा निर्मल स्वच्छ थी।

अब उन्होंने इस प्रकार ब्रजभाव की साधना का अभ्यास प्रारंभ किया। वे स्मरण करते - 'यमुना'। उनका मन एकाग्र तो था ही। 'यमुना' शब्द के

स्मरण करते ही उनका मन 'यमुना' की भावना में तल्लीन हो जाता था, और यमुना का निर्मल मंजुल प्रवाह उनके सम्मुख व्यक्त हो जाता था।

ऐसे ही 'वेणुध्वनि' इस शब्द के श्रवण-मात्र से गुरुदेव उस लोकातीत नाद-श्रवण की माधुरी में लीन हो जाते थे जो अचिन्त्य अवस्था होती थी। पू. गुरुदेव कहते थे कि पू. पोद्दार महाराज की कृपा से मुझे जो वेणुध्वनि का श्रवण हुआ, वह इतना अभूतपूर्व था कि निखिल लोकों के निखिल नादों की जितनी मधुरिमा हैं उन सबकी तुलना करने पर वे सभी श्रीकृष्ण की वेणुध्वनि रूपी माधुरी के महान सागर के मात्र एक अणु में ही डूब जाती थीं। मैं अति दीन चित्त से आकुल हो प्रार्थना कर बैठता था - ' हे श्यामसुन्दर ! जहाँ-जहाँ आपकी मुरली के द्वारा कर्णप्रिय नाद सुधा की वर्षा होती है, वहीं-वहीं मेरे अनाद्यनन्त जन्म होते रहें, अत्यन्त तुच्छ निर्वाण से मेरा क्या प्रयोजन है।

पू. गुरुदेव ने छहों दर्शनों का अति गंभीर विशद अध्ययन किया था। वैशेषिक के वे पण्डित थे। तर्कशास्त्र में वे पारंगत थे। जैमिनी-मीमांसा-सूत्र एवं सांख्यादि-विद्या तो उन्हें कण्ठस्थ थी। उन्होंने वेदान्तादि दर्शनों का अनुशीलन आत्यन्तिक रूप से कर रखा था। परन्तु श्रीपोद्दार महाराज रूप सन्त भगवान की हेतुरहित कृपा से भगवान नन्दनन्दन ने उनके कानों में ऐसी वेणु-माधुरी प्रवाहित की कि उनका चित्त बलात् आकर्षित हो उठा एवं ऐसा आकर्षित हुआ कि उनकी सब शास्त्रों में आस्था ही नहीं रही। मात्र आस्था श्रीकृष्ण-वंशी-नादामृत में ही केन्द्रित हो गयी।

व्रज भाव की पाँच सौ शब्दावली

पू. गुरुदेव ने पांच हजार ऐसे वाक्य चयन किये हुए थे, जिन पर प्रतिदिन वे अपना ध्यान ३०-४० सैकिण्ड अवश्य केन्द्रित किया करते थे। एक सहस्र नाम तो उन्होंने मुझे (लेखक को) लिखाये थे एवं कहा था कि दस-दस, बीस-बीस सैकिण्ड प्रतिदिन इन शब्दों में अपना ध्यान केन्द्रित किया कर। मुझे उन दिनों उन्होंने माधुर्य उपासना नहीं दी थी, पहले श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं में ही मेरा चित्त वे रमाना चाहते थे।

इस सहस्र शब्दावली में से पाँच सौ के लगभग यहाँ साधकों के लाभार्थ दिये जा रहे हैं।१. यशोदा, २. नन्दरायजी ३.नन्दभवन, ४. नन्दभवन के

पार्श्व में गोशाला, ५. यमुना, ६. यमुना के घाट, ७.घाटों में नाव, ८.घाटों की स्वर्ण-रजत-मंडित रत्न खचित सीढ़ियाँ, ९. स्त्रियों के स्नानघाट १०. पुरुषों के घाट ११.यमुना में खिलते कमल, १२. नीलकमल १३. रक्तपद्म १४. स्थल कमल १५.अप्राकृत शोभाशाली लतायें, १६. लताओं में रंग-बिरंगे पुष्प, १७. नन्दभवन का राजद्वार १८. राजपथ, १९. राजद्वार पर बैठे प्रहरी, २०. राजद्वार के शहनाई वादक, २१. नन्दभवन का शिखर एवं दीपस्तंभ, २२. गौएँ, २३. गौओं के स्वर्ण-मण्डित सींग, २४. गोप, २५. गोशाला के परिचारकों की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ, २६. गोदोहक, २७. गोदोहन की ध्वनि, २८. यशोदाजी की वेणी, २९. उनके हाथों के आभूषण, ३०. उनके द्वारा दधिमंथन, ३१. यशोदा जी की परिचारिकाएँ, ३२. उन की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ, ३३. श्रीकृष्ण का शिशु-वेष, ३४. उनका पालना, ३५. उनके काजल भरे नेत्र, ३६.उनकी नासिका, ३७. श्वास-प्रश्वास से फूलते नथुने, ३८. श्वास से हिलता उदर, ३९. उनकी नाभि, ४०. अतिसूक्ष्म रोमावली, ४१. उनकी लाल-लाल हथेली, ४२. उनके हाथों की नखमणियाँ, ४३. उनकी अँगुलियाँ, ४४. उनके कोमल किसलय से अधर, ४५. नीचे उगे दो दाँत, ४६. उनकी जिह्वा, ४७. उनके सुकोमल चरण, ४८. मांसल जंघाएँ, ४९. उनके नितम्ब, ५०. उनका अप्राकृत सुन्दर पुरुष चिन्ह। ५१. उनका चरण चलाना, ५२. उनका बाहुचालन, ५३. उनकी मुसकान, ५४. उनके कृष्ण कुन्तल, ५५. घुँघराली अलकावलि, ५६. गुम्फित मयूरपिच्छ, ५७. श्रीकृष्ण की लघुवंशिका, ५८. उनका घुटुरुन चलना, ५९. उनकी करधनी, ६०. करधनी की रुणकार, ६१. चरणों में नूपुर, ६२. उनकी चरण-नखावली, ६३. चरण-नख-चंद्रिका, ६४. उनका परम सुन्दर वक्षस्थल ६५. उस पर सुशोभित व्याघ्र-नख एवं दृष्टिदोष-निवारक-यंत्र, ६६. नन्दभवन का प्रांगण, ६७. प्रागंण के रत्नखचित स्वर्ण के खंभे, ६८. स्फटिक स्तंभ, ६९. स्फटिक स्तंभ में श्रीकृष्ण की छाया, ७०. छाया का अप्रतिम सौन्दर्य, ७१. छाया के संग क्रीड़ा, ७२. श्रीकृष्ण के सुबलादि बालसखा, ७३. श्रीबलरामजी, ७४. बलरामजी का अंग-सौन्दर्य, ७५. रोहिणी मैया, ७६. रोहिणी मैया द्वारा बलराम एवं श्रीकृष्ण दोनों को गोद में रखना, ७७. बलरामजी एवं श्रीकृष्ण की परस्पर प्रेम-क्रीड़ा, ७८. तुतलाकर बोलना, ७९. नन्दरायजी के द्वारा श्रीकृष्ण एवं बलराम दोनों को कंधे पर चढ़ाकर गौशाला ले जाना, ८०. गौओं के दर्शन, ८१. गौओं के श्रृंगार एवं उनका

पूजन, ८२. महर्षि शाण्डिल्य, ८३. वेद-पाठ-रत ब्राह्मण, ८४. श्रीकृष्ण एवं बलरामजी का स्वस्तिवाचन, ८५. उपंनन्दजी, ८६. संनन्दजी, ८७. श्रीउपनन्द जी की पत्नी प्रभावती, ८८. श्रीसंनन्दजी की पत्नी, ८९. सभी का श्रीकृष्ण-बलराम के प्रति प्रगाढ़ वात्सल्य, ९०. भगवान नारायण का नन्दभवन स्थित भव्यमन्दिर, ९१. मन्दिर का विशाल बाह्य-मंडप, ९२. मंडप में देवी-देवताओं, यक्षों, किन्नरों, गन्धर्वों की कलात्मक आकृतियाँ, ९३. मन्दिर का गर्भ-गृह, ९४ भगवान नारायण की नीलमणि प्रस्तर से निर्मित जीवन्त मूर्त्ति, ९५. पूजागृह में भगवान नृसिंहादि के अन्य विग्रह, ९६. शालिग्राम-शिला, ९७. सुदर्शन यंत्र, ९८. भगवती लक्ष्मीजी का यंत्र, ९९. उनका प्रतीकात्मक अर्चाविग्रह, १००. ब्राह्मणों द्वारा पुरुष सूक्त का पाठ, १०१. श्रीनन्दराय द्वारा ब्राह्मणों का पूजन, १०२. श्रीकृष्ण-बलराम द्वारा महर्षि शांडिल्य का पूजन, १०३. महर्षि द्वारा श्रीकृष्ण-बलराम में साक्षात् ब्रह्म दर्शन, १०४. महर्षि के सम्मुख श्रीकृष्ण का मुसकाना, १०५. उनकी विश्व विमोहिनी मुसकान में भगवती आद्याशक्ति जगदम्बा का प्राकट्य एवं महर्षि को दर्शन, १०६. महर्षि की अचिन्त्य दशा, १०७. श्रीयशोदाजी द्वारा भगवान श्रीकृष्ण का पुरमहिलाओं को दर्शन कराना, १०८. पुरमहिलाओं द्वारा श्रीकृष्ण का कभी सिर को नीचा करके, कभी बांयी ओर मोड़कर, कभी दाहिनी ओर झुककर दर्शन करना। १०९. पुर महिलाओं के अश्रु-बिन्दुओं से मुक्तामालाओं का सृजन, ११०. श्रीयशोदाजी का श्रीकृष्ण को नन्दरायजी की गोद में देना, १११. उनके द्वारा पुरवासियों के मध्य श्रीकृष्ण को ले जाना ११२. श्रीकृष्ण को गोद में लेते ही उनके संस्पर्श से नन्दरायजी की बाह्य-ज्ञान-विस्मृति और विलक्षण भावसमाधि में अश्रु-प्रवाह, ११३. श्रीकृष्ण द्वारा अपने कोमल नील कुड्मल से हाथों द्वारा बाबा के अश्रु पौंछना, और उन्हें हिलाकर जगाना। ११४. श्रीकृष्ण द्वारा अपने बाबा का मुख ऊँचाकर उनसे अति प्रेम-भंगिमा-पूर्ण-वार्तालाप, ११५. श्रीकृष्ण द्वारा तोतली वाणी में बाबा के अश्रु मोचन का रहस्य पूछना। ११६. श्रीनन्दरायजी द्वारा श्रीकृष्ण को वात्सल्य की विह्वलता वश, कण्ठ से लगा लेना और कहना - "मेरे लाल ! तू मेरी अनन्त जन्मार्जित पुण्यराशि रूप कल्पतरु-उद्यान का प्रफुल्ल कुसुम है, तू मेरे वात्सल्य की कल्पलता-श्रेणी का मधुर फल है, अतः तुझे देखकर, तुझे गोद में पाकर मेरे नेत्र आनन्द से झरने लगते हैं।"

११७.श्रीकृष्ण अत्यंत भोलेपन से अपने बाबा के मुख की ओर सतृष्ण देखते हैं और तब कहते हैं - "बाबा ! यह कल्पतरु उद्यान यमुनाके उस पार है क्या ? बाबा ! मैं तो मेरी मैया का हूँ इस कल्पलता श्रेणी का फल तो सुबल भैया होगा !"

११८. श्रीकृष्ण का नन्दजी के साथ नन्दभवन के अन्त:पुर में जाना। ११९. सखाओं के साथ कलेऊ। श्रीकृष्ण का स्वयं बहुत ही कम खाना, केवल लोनी का स्वाद चखना, १२०. श्रीकृष्ण का सखाओं सहित बन्दरों को मक्खन खिलाना, १२१. श्रीकृष्ण की बालक्रीड़ा से घर के आँगन में दधि, नवनीत का कीच। १२२. नवनीत से लिपे-पुते मुखवाले सखाओं की शोभा, १२३. नवनीत से श्रीकृष्ण के लिप्तांगों का अभूतपूर्व सौन्दर्य, १२४. श्रीकृष्ण द्वारा मैया की वेणी को मक्खन खिलाने की लीला, १२५. मैया द्वारा संकेत से रोहिणीजी द्वारा श्रीकृष्ण-बलराम का स्नान, श्रृंगार। १२६. सखाओं का भी उनकी माताओं द्वारा स्नान एवं श्रृंगार। १२७.श्रीकृष्ण का गोशाला में खेलने जाने को मचलना। १२८. गौशाला में न जाकर छोटी बछड़ियों, बछड़ों के संग खेलने की मैया की अनुमति। १२९. परिचारकों की गोद में चढ़कर श्रीकृष्ण-बलराम का गोशाला जाना। १३०.परिचारकों जैसी पगड़ी पहनने का श्रीकृष्ण का आग्रह। १३१. परिचारकों का हँसना। १३२.मैया द्वारा सुन्दर सुनहरी पचरंगी पाग श्रीकृष्ण को पहनाना। १३३. श्रीकृष्ण का उस पाग को परिचारक के मस्तक पर पहनाने का आग्रह और उसकी पगड़ी स्वयं पहनने के लिये मचल जाना। १३४. किसी प्रकार परिचारक की पगड़ी पहनकर ही संतुष्ट होना। १३५. बछड़ियों के साथ खेल-कूद। १३६. उनके कान में वंशी फूँकने का आग्रह। १३७. बछड़ियों की उछल-कूद। १३८. श्रीकृष्ण की उनके समान ही उछल-कूद। १३९. परिचारिकाओं को गोबर उठा-उठा कर देने का खेल। १४०. गोबर के घरौंदे बनाना, १४१. उन घरों को लाल-पीला पोतना १४२. गोबर से गोवर्धन पर्वत का निर्माण १४३. बछड़ों द्वारा गोबर निर्मित घरों का भंग।१४४. बछड़ों की पीठ पर बैठने का आग्रह। १४५. बछड़ों की पूँछ पकड़कर लटकने का खेल। १४६. मैया द्वारा भोजन के लिये पुकार। १४७. नन्दबाबा के संग बैठकर एक थाली में श्रीकृष्ण-बलराम का भोजन। १४८. श्रीनन्दबाबा को अपने हाथ से खिलाने का आग्रह। १४९. श्रीनन्दबाबा की दाढ़ी को भी खिलाने का आग्रह।१५०. श्रीनन्दबाबा की दाढ़ी क्यों नहीं खाती, इसलिये रूठ जाना। १५१. श्रीनन्दबाबा द्वारा बहुत ही मनुहार पूर्वक दो

कौर क्षीर मिष्ठान्न का ग्रास देना। १५२. श्रीनन्दबाबा की थाली से मिष्ठान्न लेकर कौओं, शुकों, कपोतों और चिड़ियाओं को खिलाना। १५३. नन्दबाबा के साथ गौओं को, बछड़े-बछड़ियों को भी भोजन कराने को मचलना। १५४. गौओं को गो-ग्रास देकर आना। १५५. मैया का स्तनपान करने को मचलना। १५६. मैया द्वारा स्तनपान। १५७. श्रीकृष्ण के मुख की राफों से दूध के चूकर बहने की शोभा। १५८. अतिशय दुग्ध-प्रवाह से मैया के वस्त्रों का भीग जाना। १५९. दुग्ध-धार का महल के आँगन में प्रवाह। १६०. प्रवहमान दूध का भाग्यशाली पक्षियों द्वारा पान, १६१. रोहिणीजी द्वारा बहलाकर शयन-कक्ष ले जाना और श्रीकृष्ण, बलराम और सखाओं का संग-संग रोहिणी जी से रामकथा एवं अन्य अवतारों की कथा का श्रवण।

१६२. श्रीकृष्ण को निद्रा की झपकी आना। १६३. उनके निद्रित सौन्दर्य का दर्शन १६४. श्रीकृष्ण का स्वप्न-दर्शन, १६५. स्वप्न में मुरली को कोई बन्दरी चुरा ले जाती है १६६. श्रीकृष्ण का रोते हुए उठना। १६७. उठते ही बाँसुरी चोरी चले जाने की शिकायत करना। १६८. मैया का बाँसुरी दिखाना १६९. परन्तु श्रीकृष्ण का स्वप्न को सत्य समझकर उस बाँसुरी को दूसरी बाँसुरी बताना। १७०. मैया द्वारा स्वप्न-काल की घटना का मिथ्यात्व सिद्ध करना असंभव हो जाना। १७१. श्रीकृष्ण का जिद करना कि बन्दरी बाँसुरी ले गई तो वह ले ही गई, वह असत्य कैसे हो सकता है। १७२. रोहिणी द्वारा पालतू शुक से वंशी वापस दिलाना एवं समझाना कि यह शुक बन्दरी से वंशी वापस छीनकर लाया है। तभी उनके रुदन का विराम। १७३. मैया के पास व्रज की पुरन्धियों का एकत्रित होना १७४. उनका श्रीकृष्ण के गुण-लीला-सौन्दर्य का बखान करते हुए गायन, १७५ ताल-बन्ध पर श्रीकृष्णचन्द्र का नृत्य करना। १७६. श्रीकृष्ण के साथ सखाओं का भी संग-संग थिरकना। १७७. व्रजसुन्दरियों का 'तत तत थेइ थेइ' कहना और श्रीकृष्ण का ठीक तदनुरूप पद एवं हाव-भाव संचालन। १७८. श्रीनन्दरायजी द्वारा संध्या करते हुए, बाहर से द्वार-संध से पुत्र का नृत्य-दर्शन, १७९. श्रीकृष्ण का मन्द-मन्द गायन १८०. इसी समय नन्दरायजी पर दृष्टि पड़ जाने से श्रीकृष्ण का संकुचित हो जाना। १८१. नन्दरायजी की संध्या करने की क्रिया की श्रीकृष्ण द्वारा अनुकृति करना। १८२. जननी द्वारा श्रीकृष्ण को गोद में उठाकर कपोलों का बार-बार चूमना। १८३. पुनः जननी द्वारा बाबा को नृत्य दिखाने की आज्ञा देना १८४. जननी के प्रेमाग्रहवश और

बाबा की लालसा पूर्ण करने श्रीकृष्ण का पुनः नृत्य करना १८५. नूपुरों की मधुर रुनझुन ध्वनि १८६. मैया एवं बाबा की कर-ताली बजाना १८७. श्रीव्रजेन्द्र के मन का शरीर से निकलकर नूपुर-ध्वनि में विलय हो जाना १८८. मनशून्य व्रजेन्द्र का अपलक स्थिर-नेत्र हो जाना, १८९.दल-के-दल व्रजपुरवासियों और पुरन्ध्रियों का नृत्यदर्शन करने उमड़ आना १९०.श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा मुक्त-हस्त से बाल-मधुरिमा वितरण १९१.उनका कभी अस्फुट स्खलित स्वरों से गायन, १९२. हास्य-रञ्जित तोतली वाणी में नृत्य के बोल बोलना १९३. फिर नाचना और नृत्य के अन्त में अभूतपूर्व भंगिमा दिखाकर उसका समापन करना। १९४. श्रीनन्दरायजी से नन्हीं सी भुजा फैलाकर श्रीकृष्ण का लिपट पड़ना। १९५. ब्रजरमणियों के आगमन पर श्रीनन्दराय द्वारा अति संकोचपूर्वक अपने लाल की छवि हृदय में भरकर विदाई लेना। १९६. अपने लाला को यशोदा को सौंपना १९७. आभीरबालाओं द्वारा श्रीकृष्ण को मयूर का नृत्य दिखाना १९८. ग्वालिन के मनोरथ की पूर्ति के लिये श्रीकृष्ण का दोनों भुजाओं को पीठ की ओर करके मयूर बन जाना एवं ग्रीवा ऊपर उठाकर ग्वालिन के चारों ओर घूम कर फेरी देते हुए नृत्य करना। १९९. गोपांगनाओं में तुमुल हर्ष-ध्वनि। २००. एक गोपबाला का प्रश्न "बता मेरे प्राण ! भ्रमर का गुन्जारण कैसे होता है ?" २०१. श्रीकृष्ण का भ्रमर की तरह उद्यान से दौड़कर आना और गूं ऊं ऊं ऊं उच्चारण करना और प्रासाद के आँगन में दौड़ना। २०२. श्रीयशोदाजी द्वारा राई-लौन करके दृष्टिदोष उतारना। २०३. गोपसुन्दरियों के आनन्द का पार नहीं रहना। २०४. किसी भी राह चलती गोपसुन्दरी से श्रीकृष्ण का मैया मानकर लिपट जाना २०५. गोपसुन्दरियों का भावाविष्ट हो जाना। २०६. श्रीकृष्ण का बलराम एवं अन्य सखाओं के साथ मल्ल क्रीडा करना। २०७. उनका बाहुक्षेप करना २०८. जंघा पर ताल ठोंकना २०९. किसी भी गोपी के द्वारा बलराम को अधिक बलशाली बताने पर श्रीकृष्ण का खिन्न हो जाना २१०. श्रीबलराम जी का हँसना २११. श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये बलरामजी का बलशाली होते हुए भी हार जाना। २१२. मधुमंगल का बलरामजी की पोल खोलना कि ये श्रीकृष्ण को जिताने के लिये जानकर हार स्वीकार कर रहे हैं। २१३. श्रीकृष्ण का मचलकर मधुमंगल को कभी भी साथ नहीं खिलाने की धमकी देना। २१४. मधुमंगल का दाँत निपोर कर हँसना २१५.यशोदाजी द्वारा लड्डू वितरण। २१६. लड्डू खाकर पुनः मल्ल क्रीड़ा

करना। २१७. मल्ल युद्ध में कभी श्रीकृष्ण का ऊपर होना, कभी बलराम जी का ऊपर होना, २१८. इस प्रकार अभिनव मल्लक्रीडा की रचना २१९. कृष्ण-बलराम की विशेष शोभा का दर्शन २२०. कृष्ण-बलराम द्वारा मल्लक्रीडा के पश्चात पुनः नृत्य करना। २२१. नृत्य करते-करते थक जाने पर रोष करके रोने लग जाना. २२२. यशोदामैया द्वारा अपने लाल को थका पाकर तुरन्त गोद में उठा लेना। २२३. मुख पर चुम्बनों की बौछार करना। २२४. श्रीकृष्ण-बलराम को लेकर उन्हें धूलि-धूसरित देखकर स्नानगृह की ओर ले जाना। २२५. स्नानघर में स्वर्ण कलशियों में सुरभित स्वच्छ जल की शोभा देखना। २२६. स्वर्णकलशी का जल एक छोटे पात्र में लेकर श्रीकृष्ण को एक स्नानपात्र (बडी परात) में स्थित चौकी पर बैठाना, २२७. श्रीकृष्ण की और बलरामजी की भिन्न-भिन्न परातों में सुरभित स्वच्छ समशीतोष्ण जल डाल देना २२८. श्रीकृष्ण द्वारा एवं बलरामजी द्वारा जल का थपथपाया जाना, और जल उछालना। २२९. माता यशोदा एवं रोहिणी द्वारा विलक्षण जल-केलि शोभा निरखकर बलिहार होना। २३०. छोटे स्वर्णपात्र(लोटेनुमा सुराही) से माता यशोदा द्वारा जल लेकर श्रीकृष्णचन्द्र के चूर्ण-कुन्तल-मण्डित सिर पर बिखेर देना। २३१. जल के सिर पर गिरने से श्रीकृष्ण का किंचित सिहरना और स्वर्ण परात से माँ की गोद में आने के लिये बाहु ऊपर उठाना २३२.माँ द्वारा पुनः थोड़ा सुरभित जल और डाल देना। २३३. माता द्वारा गोद में लेकर पुनः जलपात्र में बैठाकर सभी अंग मल-मलकर धोना २३४. श्रीअंगों के मले जाने पर उनसे अभूतपूर्व अंग-गंध का प्रवाह बहना। २३५. उस अंग-गंध से यशोदाजी को विलक्षण भावसमाधि लग जाना। २३६. यशोदामाता को नेत्र मूँदे हुए और आनन्द समाधि में डूबी देखकर श्रीकृष्ण-बलराम दोनों का अति मधुर मुसकाना। २३७. माता पर अपने हाथ से जलपात्र से जल लेकर उछाल कर डालना। २३८. जल के छींटे पड़ने से माँ का जाग्रत होना। २३९. पुनः श्रीकृष्ण-बलराम को स्नान कराना। २४०. अंगों को निर्मल सुकोमलतम मलमल के वस्त्रों से लपेट देना। २४१. वारिधारा का केशों से भाल, नेत्र, कपोल, एवं स्कंध, तथा उदर पर टपकने की शोभा निरखकर निहाल होना। २४२. जननी द्वारा अपने पुत्र के जलसिक्त होने से लाली लिये नेत्रों को देखकर भ्रम करना कि कहीं अरविन्द पत्र ही मेरे लाल के नेत्रों के स्थान पर जड़ित तो नहीं है। २४३. अहा! मेरे लाल के अंगों में स्वच्छता ऐसी है मानो महा-मरकतमणि को ही इसके अंगों

के रूप में गढ़ दिया गया हो २४४.अहा, कैसी विलक्षण सौरभ अंगों से नि:सृत हो रही है, मानो नीलोत्पल विकसित हो रहा हो, २४५. अहा ! कैसी मधुर वाणी है मानो हंसों से युक्त यमुना की लहरें हों २४६. श्रीअंग-क्रान्ति ऐसी है मानो ज्योत्स्ना से परिपूर्ण तिमिर अंकुर हो। २४७. स्निग्धता ऐसी है मानो पूर्ण ज्योतिर्मान जलधर खण्ड हो। २४८. ब्रजपुर में संध्या की शोभा २४९. गौएँ पश्चिम दिशा से आ रही हैं अत: गोधूलि से व्रजपुर नन्दग्राम आवृत है। २५०. सूर्यास्त की लालिमा से नभ में पूर्ण व्रजरज अति सुन्दर रंग बिरंगी अनुरंजित हो रही है। २५१. कुमुद, कल्हार, कुन्द एवं मन्दार पुष्पों से सुरभित बयार व्रजपुर में बह रही है। २५२. संध्या आरती हो रही है २५३. ब्रजपुर में प्रत्येक घर में नारायण मन्दिर हैं, अत: घण्टानाद हो रहा है। २५४. शंख एवं मृदंग-नगाड़ों की ध्वनि मुखरित है। २५५. हरिकीर्तन नारायण-नारायण का उच्चारण हो रहा है। २५६. गोपबालक नृत्य कर रहे हैं। २५७. वन-क्षेत्र से गौएँ लौट आयी हैं। २५८. गोपाल उन्हें गोशाला में ले जाने के पूर्व घरों के द्वारदेश में पूजन के लिये एकत्र कर रहे हैं। २५९. घरों-घरों में गोपूजन हो रहा हैं। २६०. श्रीनन्दबाबा बलराम एवं श्रीकृष्ण को लेकर उनके हाथों विविध उपचारों से गोपूजन करा रहे हैं। २६१. ब्राह्मणगण वेदमंत्र उच्चारण कर रहे हैं। २६२. गोपुच्छ से श्रीकृष्ण-बलराम का रक्षा-कवच कराया जा रहा है। २६३. व्रजेन्द्र नन्दबाबा श्रीकृष्ण-बलराम को नारायण मन्दिर दर्शनार्थ ले जा रहे हैं। २६४. विविध उपचारों से ब्राह्मण नारायण अर्चन कर रहे हैं। २६५. ब्राह्मण भगवान नारायण के विग्रह के चरणों से उठाकर तुलसीदल एवं निर्माल्य पुष्प नन्दरायजी को देते हैं। २६६. श्रीनन्दबाबा निर्माल्य पुष्प श्रीकृष्ण-बलराम के मस्तक पर रखते हैं २६७. श्रीराम-कृष्ण के मस्तक पर घुँघराली कुन्तल राशि की शोभा निहारते हुए नन्दराय के अश्रु बह उठते हैं। २६८. श्रीकृष्ण बलराम के मस्तक पर अश्रु-बिन्दुओं का टपक जाना २६९. बालकों द्वारा मुख ऊपर उठाकर नन्दराय क्यों रो रहे हैं -- जिज्ञासा करना २७०. नन्दबाबा द्वारा बिना कुछ उत्तर दिये श्रीकृष्ण एवं बलराम को गोद में उठा लेना।

२७१. श्रीकृष्ण द्वारा बाबा के अश्रु अपनी सुकोमल हथेलियों से पौंछना। २७२. अकस्मात गोद से उतर पाँवों-पाँवों श्रीकृष्ण का माता के पास जाने की लालसा करना। २७३. श्रीकृष्ण का पाँवों से नूपुर ध्वनि करते हुए धीरे-धीरे चलना। २७४. ब्रजरानी के पास पहुँचकर हाथ उठाकर गोद में शीघ्र आने

को दौड़ पड़ना। २७५. लड़खड़ा कर गिर पड़ने के पूर्व माता द्वारा गोद में उठा लेना २७६. ब्रजरानी के वात्सल्य से नेत्र छलछला आना २७७.ब्रजरानी के स्नेहावेश से स्तन झरने लगना। २७८. रोहिणीजी द्वारा बलराम को गोद में लेकर नन्दरायजी की लज्जा से दूसरे कक्ष में चले जाना। २७९. श्री नन्दराय का हट जाना। २८०. नन्दरायजी के हट जाने पर यशोदा मैया द्वारा श्रीकृष्ण को दुग्ध-पान कराना। २८१. श्रीकृष्ण द्वारा अत्यंत क्षुधातुर की तरह ललक से दुग्ध-पान करना २८२. यशोदा द्वारा श्रीकृष्ण का चुम्बन कर पुनः दूध पीने को प्रोत्साहित करना २८३. श्रीकृष्ण का जमुहायी लेना। २८४. श्री नन्दरानी द्वारा श्रीकृष्ण के छोटे से मुख विवर में सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को देखना। २८५. श्रीयशोदाजी की श्वासगति का अतिशय तीव्र हो जाना २८६. नन्दरानी का थर-थर कम्पित होना २८७. सम्पूर्ण शरीर के रोम-ऊर्ध्व हो जाना २८८. यशुमति द्वारा पुनः मुख विवर में झाँकना २८९. पुनः देखना-नीला अनन्त महाकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, नक्षत्र, दिशायें, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वतमालाएँ, नद-नदी समूह, अरण्य श्रेणियाँ, चराचर अनन्त प्राणी। २९०. यशोदा द्वारा यह सब दृष्य देखकर मुग्ध भावाविष्ट हो जाना २९१. श्रीकृष्ण द्वारा अपनी माँ के कपोल पकड़कर उसे बार-बार भावावेश से जगाने की चेष्टा करना २९२: माता के होश में आते ही नीलमणि का हँसकर उसकी गोद में आ जाना २९३. मैया का अपने लाल को देखकर घटना प्रवाह भूल जाना। २९४. आश्विन पूर्णिमा की रात्रि २९५. आम्रपंक्ति कदम्ब-श्रेणी चाँदनी से नहा रही है। पर्वतीय निर्झरों से अमृत झर रहा है। २९६. कूप तड़ाग दिव्य सुधा से पूर्ण हैं। २९७. मानो ब्रजभूमि नहीं, चिन्तामणियों का विशाल आस्तरण है। २९८. गोपसुन्दरियाँ नहीं, अगणित महालक्ष्मी भूतल पर अवतरित हैं; २९९. ब्रजवधुओं की वाणी संगीतमयी है ३००. इनका गमन नृत्यमय है। ३०१. आकाश चिन्मय है ३०२. चन्द्रोदय हो चुका है ३०३. चन्द्र ज्योत्स्ना चिदानन्दमयी सर्वत्र प्रसरित है ३०४. नन्दभवन में गगन-चुम्बी मणि सद्म हैं ३०५. गोपरामाओं से नन्दसदन भरा है। ३०६. आज रात्रिपर्यन्त नन्दसदन में श्रीनारायण का नाम-गुण-कीर्तन होगा। ३०७. श्रीकृष्ण के नेत्रों में आज निद्रा नहीं ३०८. गोपवधुओं के ढ़ोलक-मृदंग झाँझ वादन पर उनका नृत्य चल रहा है। ३०९. वे सर्वथा निरालस्य एवं चंचल हैं। ३१०. नव-नव नूतन अतिशय कमनीय बाल्यभंगिमाएँ उनके अंग-संचालन से प्रकट हो रही हैं। ३११. ब्रजतरुणियाँ श्रीकृष्ण के नृत्य पर प्राण न्यौछावर कर रही हैं

३१२. सहसा उनकी दृष्टि मंथन-गगरी में स्थिर हो जाती है। ३१३. गगरी में गगनस्थ चन्द्र प्रतिबिम्बित हो रहा है। ३१४. वे और समीप जाकर देखते हैं ३१५.यह ऐसी क्या अति सुन्दर वस्तु है ? वे मैया से जिज्ञासा करते हैं। ३१६. जननी मात्र पुत्र की ओर देखती है उसकी अतिभोली बात का प्रत्युत्तर नहीं दे पातीं। ३१७. श्रीकृष्ण जननी का अंचल पकड़कर पुनः पूछते हैं ! ३१८."मेरे लाल ! यह चन्द्र है।" माता हँसकर उत्तर देती हैं। ३१९. श्रीकृष्ण हर्ष से ताली पीटकर नाचने लगते हैं। ३२०. अब तो उनकी माँ से हठ भरी माँग प्रारंभ हो जाती है - "मैया तू गगरी से निकालकर इसे मेरे हाथों में रख दे।" ३२१. श्रीकृष्ण मचलकर रो रहे हैं ३२२. उपनन्दपत्नी प्रभावती एक उपाय करती हैं, वे भण्डार से छुपाकर एक नवनीत खण्ड लाकर चुपचाप गगरी में डालकर खड़ी हो जाती हैं। ३२३. मैया अंचल से पुत्र की आँखें पौंछती है और कहती है -"तू नहीं ही मानता तो ले तुझे चन्द्र दे देती हूँ।" ३२४. जननी आती है और नवनीत खण्ड निकालकर श्रीकृष्ण के हाथों में रख देती है। ३२५. आनन्द में निमग्न श्रीकृष्ण हाथ में नवनीत खण्ड लेकर गगरी की ओर देखते हैं। ३२६. ब्रजरमणियों की जिज्ञासावश निकट उपस्थिति में गगरी में चन्द्र-प्रतिबिम्ब उन्हें नहीं दिखता। ३२७. नवनीत-पिण्ड लेकर वे आँगन में दौड़ रहे हैं ३२८. चन्द्र गगरी से निकाल कर मैया ने मुझे दे दिया, वे बलराम जी को सूचना देते हैं। ३२९. बलराम सहित वे पुनः गगरी में झाँकते हैं। ३३०. इस बार गोपरमणियों द्वारा गगरी छोड़ दिये जाने से चन्द्र-प्रतिबिम्ब पुनः उन्हें दिखाई पड़ जाता है। ३३१. उनके पंकज-नयनों में रोष एवं मान-व्यथा भरी है। ३३२. वे भूमि पर लोट जाते हैं ३३३. हाथ पैर पटक कर करुण क्रन्दन करने लगते हैं। ३३४. रूठे हुए श्रीकृष्ण जननी की गोद में नहीं आना चाहते। ३३५. यशोदा समझाती है चन्द्रमा गगन में है, गगरी में नहीं है। ३३६. उन्हें प्रतीत होता है, चन्द्रमा दो हैं, एक गगरी में और एक गगन में। ३३७. यशोदाजी श्रीकृष्ण को समझाती हैं - चन्द्रमा तेरी बहू का मुख है। वह तुझे देखने आता है। तू आँगन में खेलता नाचता है तो वह आकाश से देखता है और तू गगरी में झाँकता है तो वह गगरी में आ जाता है ३३८. श्रीकृष्ण हँसने लगते हैं । ३३९. एक गोपी गा रही है -

मैं देख्यौ जसुदा के आँगन मम नयनन को तारो री।
ततछन प्रान पलट गये मेरे, तन-मन ह्वै गयौ कारो री।।
जल-थल-नभ-कानन के भीतर जहँ लौं दृष्टि पसारो री।

तित ही तित मेरे नयनन आगे निरतत नन्द दुलारो री।।
देखत आनि सँच्यौ उर अन्तर, दै पलकन कौ तारौ री।
मोहि भ्रम भयो सखी उर अपनैं चहुँ दिशि भयो उजियारो री।।
हौं उन माँहि कि वे मोहि महिंयाँ परत न देत सँभारौ री।
तरु में बीज कि बीज माँहि तरु, दुहुँ में एक न न्यारौ री।।

३४०.एक महिष के पृष्ठ देश में श्रीकृष्ण चढ़ रहे हैं। बलराम उसे भगाने से वर्जित करने के लिये पूँछ पकड़े हैं। ३४१. प्रज्ज्वलित अग्निशिखा को पकड़ने की दोनों चेष्टा कर रहे हैं। ३४२. एक श्वान श्रीकृष्ण के पास पूँछ हिलाता खड़ा है, वह श्रीकृष्ण के सम्मुख नतमस्तक है। ३४३. बलराम उसके गले से लिपटे हैं ३४४. श्रीकृष्ण उसकी मुख-जिह्वा खींचना चाहते हैं। ३४५. एक कृष्ण सर्प के सामने दोनों खड़े हैं। बलराम ने उसकी पूँछ खींची है ३४६. सर्प फण का विस्तार करके लपलपाने लगता है । ३४७. श्रीकृष्ण ने उसके फण पर अपना वरद-हस्त रख दिया है। ३४८. श्रीकृष्ण ने हाथ से उसे पकड़ लिया है, बच्चे ताली पीटकर हँस रहे हैं। ३४९. कृष्ण-राम गंभीर कूप के सम्मुख दोनों खड़े हैं। बँधी हुई बड़ी कलशी को कूप में फेंक कर दोनों भरी हुई कलसी खींचना चाह रहे हैं। भरी कलसी भारी हो जाने पर मैया को पुकार रहे हैं। ३५०. नन्द प्रांगण में आनन्दमत्त मयूर को नृत्य करता दोनों देख रहे हैं। ३५१. श्रीकृष्ण पीछे से जाकर धीरे से मयूर की ऊर्ध्व पुच्छ पकड़ लेते हैं। मयूर और अधिक आनन्द विभोर हो उठता है।

३५२. ब्रजपुर के प्रमुख गोपों के बालक प्रतिदिन श्रीकृष्ण के साथ खेलने आते हैं। ३५३. उनसे आवृत कृष्ण-बलराम नन्दोद्यान में खेल रहे हैं। ३५४. गोपबालक धूलि इकट्ठी कर रहे हैं। ३५५. श्रीकृष्ण ने भी धूलिस्तूप का निर्माण किया है। ३५६. पास में ही श्रीदाम भैया भी धूलिखण्ड से उत्तम निर्माण कार्य कर रहा है। ३५७. श्रीदाम का निर्माण श्रीकृष्ण से उत्कृष्ट है। ३५८. श्रीकृष्ण ने उसका निर्माण धीरे से जाकर बिखरा दिया है। ३५९. श्रीदाम ने श्रीकृष्ण की रचनाएँ मिटा दीं । बालक हँस रहे हैं। ३६०. श्रीकृष्ण रुआँसे हैं ३६१. वे पुनः धूलिस्तूप से भवन निर्माण करने लगे हैं। परन्तु उनसे भवन निर्मित हो नहीं पा रहा है। ३६२. वे क्रोध में हाथ-पैर पटक कर सब धूलि बिखेर देते हैं, और मृत्तिका खाने लगते हैं। ३६३. अग्रज बलराम उनके हाथ पकड़ लेते हैं। ३६४. बलराम डाँटते हैं-"मृत्तिका को उगल दे" परन्तु श्रीकृष्ण उनकी परवाह नहीं कर मृत्तिका

निगल जाते हैं। ३६५. बच्चे मैया यशोदा से शिकायत करने भागते हैं। ३६६. बलराम श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ना चाहते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण हाथ छुड़ाकर पुनः मिट्टी खाते हैं। ३६७. वे कुपित पर अवश हैं। ३६८. मैया श्रीकृष्ण के परिधान सहेज रही हैं' ३६९. श्रीदाम के साथ पूरी मंडली द्वारा मिट्टी खाने की बात सुनकर मैया को रोष आ गया है। ३७०. वे कुपित हाथ में छड़ी लेकर नन्दोद्यान पहुँचती हैं ३७१. श्रीकृष्ण रूठे हुए किंचित कुपित बैठे हैं ३७२. मैया की छड़ी की ओर भयभीत शंकित देखते हैं ३७३. मैया के पूछने पर श्रीकृष्ण सर्वथा नकार देते हैं। ३७४. मैया मुख खोलने को कहती है। श्रीकृष्ण मुख खोल देते हैं। ३७५. मैया उनके मुख-विवर में पुनः सम्पूर्ण माया प्रपंच का दर्शन करती है। ३७६. वे श्रीकृष्ण का हाथ छोड़कर व्याकुल हो जाती हैं। ३७७. हाथ से छड़ी गिर जाती है, नारायण-नारायण उच्चारण करती मैया वहीं बैठ जाती हैं। ३७८. श्रीकृष्ण को गोद में उठाकर मैया नन्दगृह जा रही हैं। ३७९. मैया नारायण मन्दिर पहुँचती हैं। ३८०. नीलमणि को बैठाकर भगवान से नीलमणि की रक्षा के लिये प्रार्थना करती हैं। ३८१. द्वितीय दिवस मध्याह्न का काल है । एक वृद्धा गोपी फल की टोकरी लिये नन्दप्रासाद के राजद्वार पर खड़ी है। ३८२. वह विस्फारित नेत्र विस्मित नन्दभवन का वैभव देख रही है। ३८३. सहसा खेलते-खेलते श्रीकृष्ण राजद्वार पर खड़े हो जाते हैं। ३८४. वृद्धा जान गयी है कि ये ही नन्दतनय हैं। ३८५. उसकी विचित्र दशा है, उसका अंग-अंग काँप रहा है, आंखें झर-झर बरस रही है, मुख से वह नन्द नन्दन को अपने पास बुलाना चाहती है पर बोल नहीं सकती। उसकी वाक् शक्ति लुप्त है। ३८६. श्रीकृष्ण के पग के नूपुर रुनझुन-रुनझुन बजते हैं। वे सशंकित चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखते जाते हैं कि कोई उन्हें बाहर जाते देख तो नहीं रहा है। ३८७. वे फलवाली के समीप पहुँच जाते हैं। ३८८. उनको अपने सम्मुख अति पास में पाकर आनन्द-विगलित उसके आँसू बह उठते हैं। ३८९. सहसा उसकी वाक्शक्ति जाग्रत हो जाती है, वह बोल उठती है - "फल लोगे ?" ३९०. स्वीकृति में श्रीकृष्ण का सिर हिल जाता है । उनकी कृष्ण-कुन्तल-राशि-आवृत-मुख की कैसी विलक्षण शोभा है ? ३९१. फल विक्रयिणी श्रीकृष्ण-मुख-सौन्दर्य देखकर पगली हो जाती है। ३९२. भावाविष्ट हुई वह प्रमत्त सी फल की टोकरी लेकर चल पड़ती है। ३९३. उसकी आँखे श्रीकृष्ण की आँखों से जुडी हैं। ३९४. 'अरी मैं फल लूँगा' एक परम मधुर आवाज उसे सुनाई पडती है

३९५. फलविक्रयिणी के प्राणों में दिव्यातिदिव्य मधु की धारा बह उठती है। उसके कान उस मधुरतम शब्दावली के अमृत से भर उठते हैं। ३९६. पुनः शब्द आता है - 'री मैं फल लूँगा री, फल। ३९७. फल-विक्रयिणी लौट आती है। ३९८. वह नन्दनन्दन को विक्षिप्त सी आँखे फाड़-फाड़ देखे जाती है। ३९९. वह बोलती है - "फल लोगे ?" "लो", परन्तु इन फलों का मूल्य क्या दोगे ? ४००. श्रीकृष्ण पुनः उत्तर देते हैं - "मूल्य किसे कहते हैं ? तू तो सबसे ज्यादा पगली है, मुझे तो मैया रोज मक्खन, मलाई, आभूषण, वस्त्र, खेलने के खिलौने देती है, परन्तु कभी मूल्य नहीं माँगती। गोपियाँ भी बहुत वस्तु देती हैं, परन्तु कभी मूल्य की बात ही नहीं करतीं ?" ४०१. फलविक्रयिणी के नेत्र झर रहे हैं वह कुछ भी बोल नहीं पाती। उसकी विचित्र दशा है। ४०२. श्रीकृष्ण विचार कर रहे हैं। ४०३. उन्हें यही समझ में आता है यह मूल्य के लिये रो रही है। ४०४. वे अन्न-भण्डार की ओर दौड़ लगाते हैं - दोनों हाथ की अंजलि में नाज भरते हैं और दौड़े-दौड़े पुनः वापस आते हैं। ४०५. "ले, यह मूल्य।" वे अपनी अंजलि का अवशेष अन्न उसकी टोकरी में गिरा देते हैं। ४०६. शीघ्रता से आँगन से दौड़कर आने में अनकी अंजलि का अधिकांश अन्न तो राह में ही बिखर जाता है। ४०७. "री, मुझे अब सारा फल दे दे, ये मैं तेरे सभी फल लूँगा, सबके सब ले लूँगा।" वे पुनः बोल उठते हैं। "अब तो तेरे सब फलों का मूल्य मिल गया ?" वे उसे पुनः रोती पाकर पूछते हैं। ४०८. फल विक्रयिणी श्रीकृष्ण से पूछ बैठती है -"क्या मेरे सारे फलों का मूल्य मात्र एक धान्य का दाना है ? फल विक्रयिणी की टोकरी में तो श्रीकृष्ण की अञ्जलि का धान्य का मात्र एक दाना ही गिरा था। शेष तो उनके दौड़ कर आने से राह में ही बिखर गया था। ४०९. वे घूमकर राह में बिखरे धान्य को देखते हैं। फिर कहते हैं -"देख ! आज तो इतना ही ले ले, अब बार-बार जाने से मैया देख लेगी। फिर कभी आयेगी तो और धान्य दे दूँगा।" ४१०. फलविक्रयिणी की वाणी मुखर हो उठी थी - "नन्दनन्दन ! मेरे जीवन में दूसरा दिवस होगा, तब तो आऊँगी। गद्‌गद् कण्ठ को किसी प्रकार उसने स्वच्छ किया फिर बोली -"नन्द लाड़िले ! कर्मों के फलस्वरूप विधाता ने मुझे चाण्डालिनी बनाया। गोपियों की तरह मैं तुझे गोद में उठा नहीं सकती, तुम्हें प्यार नहीं कर सकती। तू मुझे मैया कहकर गोद में आ नहीं सकता। इस जीवन में अब यह अधिकार मिलने का भी नहीं। कदाचित् जीवन के उस पार - फलवाली का कण्ठ रुद्ध हो गया था।

४११. तत्काल श्रीकृष्ण बोल उठे "अच्छा री, सुनती है ? यह बता यदि मैं तेरी गोद में चढ़ जाऊँ और तुझे माँ कह दूँ तो तू मुझे बिना मूल्य लिये फल दे देगी ?" ४१२. फल विक्रयिणी की गरदन स्वीकृति प्रदान करती हिल जाती है। ४१३. श्रीकृष्ण एक बार इधर-उधर देखते हैं - फिर भुजा उठाकर लपक कर उसकी गोद में आ जाते हैं और उसके नेत्रों से बहते अश्रु अपनी हथेलियों से पौंछकर, उसकी ठोड़ी उठाकर उसे 'माँ' ! कह देते हैं तथा ..... फिर कहते हैं, "माँ ! अब तो फल दे दे ।" ४१४. फल विक्रयिणी अनन्त-कालीन परमानन्द समाधि में विलीन हो जाती है। ४१५. फल-विक्रयिणी उठती है। वह श्रीकृष्ण की अञ्जलि में टोकरी के सब फल रख देती है।

४१६. श्रीकृष्ण उसे आश्वस्त करते हैं - "नहीं, नहीं, तू चिन्तित मत हो, क्या मेरी अञ्जलि से धान गिर गये, इसलिये फल भी गिर जायेंगे ? इन सभी फलों को मैं खाऊँगा।"

४१७. फल-विक्रयिणी उन्मत्त पागल सी खाली टोकरी सिर पर रखकर जा रही है। एक सरोवर के तट पर टोकरी उतारती है। उसमें देखती है दिव्य रत्न लबालब भरे हैं। वह रत्नों को टटोलती है। फिर रत्नसहित टोकरी को सरोवर के अगाध जल में फेंक देती है।

निकटवर्ती गहन वन में प्रवेश कर जाती है।

४१८. यशोदा मैया श्रीकृष्ण को अञ्जलि भर फल लाते देखकर पूछती हैं- "लाल मेरे ! ये इतने फल कहां से लाया रे ?"

४१९. श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं - "किसी बहुत ही भली फलवाली ने धान्य लेकर मुझे सब फल दे दिये हैं।" ४२०. दासियाँ जो इस सब लीला को छुप कर देखती हैं, हँस पड़ती हैं। कहती हैं - "मैया ! तेरे लाला को छूना मत, इसे नहलाना। यह चाण्डालिनी की गोद में चढ़ा है और उसे 'माँ' कह कर फल लाया है।"

४२१. यशोदा मैया की आँखों में आँसू आ गये हैं। वह अपने लाल को प्यार करती भीतर ले जाती हैं।

४२२. समस्त ब्रजपुर अरुणोदय से रंजित है ४२३. आम्र प्रशाखाओं में छिपी कोकिल कुहू-कुहू स्वर भर रही है। ४२४. अन्य विहंगमों का कलरव बहुत ही मधुर राग का सृजन कर रहा है। ४२५. गोप सुन्दरियों का कल गान, गौओं की हम्मारव से व्रजपुरी मुखरित है। ४२६. व्रजेश्वर श्रीकृष्ण को

देखने शयन गृह आ गये हैं। ४२७. मैया यशोदा अपने नीलमणि को जगाने में तन्मय है। ४२८. श्रीकृष्ण मुख पर दुकूल डालकर और सोने की जिद कर रहे हैं। ४२९. व्रजराज को आया देख श्रीकृष्ण "बाबा" कहकर मुख से दुकूल हटा देते हैं। ४३०. एक अदभुत आलोकमाला से शयनागार उद्भासित हो उठता है। ४३१. नन्द-दम्पति हर्ष से खिल उठते हैं ४३२. ब्रजेश निर्निमेष नेत्रों से पुत्र की ओर देखते हैं। ४३३. ब्रजरानी और ब्रजेश श्रीकृष्ण का मुख चुम्बन कर उनके अस्तव्यस्त केशों को ठीक करती हैं। ४३४. कनकझारी से सुगन्धित जल लेकर मुख प्रक्षालन करती हैं। ४३५. फिर कलेवा कराती हैं।

कमल नैन हरि करौ कलेवा।
माखन रोटी सद्य जम्यौ दधि भाँति-भाँति के मेवा।।
खारक (सूखा खजूर) दाख, चिरौंजी, किसमिस, उज्जल गरी, बदाम।
सफरी(अमरूद) सेव, छुहारे, पिस्ता, जे तरबूजा नाम।।
अरु मेवा बहु भाँति-भाँति हैं षटरस के मिष्टान्न।
सूरदास प्रभु करत कलेवा, रीझे स्याम सुजान।।

४३६. मुख धोये बिना ही श्रीकृष्ण जननी की गोद से भाग चलते हैं। ४३७. सम्मुख द्वार पर नन्दबाबा खड़े हैं। वे दूसरे द्वार से निकलकर कुछ ही दूर पर स्थित अपनी सखामंडली में जा मिलते हैं। ४३८. मंडली बलरामजी को अगुआ करके तमालवन में एकत्र हो गयी है। ४३९. वहाँ वे गेंद से खेलते हैं। ४४०. गेंद उद्यान के सरोवर में गिर जाती है। ४४१. श्रीकृष्ण मैया से दूसरी गेंद लेने दौड़ पड़ते हैं। ४४२. मैया को श्रीकृष्ण का क्षणभर का अदर्शन आकुल-व्याकुल कर देता है। सहस्रों अनिष्ट आशंकाओं से वे घिर जाती हैं। इस ध्वनि से मैया के हृदय में अमृत की धारा बह चलती है। वे नीलमणि को हृदय से लगाकर पुनः पुनः प्यार करती हैं। ४४३. दूसरी गेंद पाकर श्रीकृष्ण पुनः खेलने दौड़ पड़ते हैं। ४४४. मैया बाहर आकर देखती हैं - तमाल वन में श्रीकृष्ण, वृषभ, जम्बी, देवप्रस्थ, वरूथप आदि वयस्यों से सुरक्षित बलराम, श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, दाम, सुबल, मंगल, मधुमंगल सुमंगल आदि सखाओं के साथ खेल रहे हैं।

४४५. देखते-देखते जननी के स्तनों में दूध भर आया है। ४४६. माता श्रीकृष्ण को पुकारती हैं। ४४७. वे श्रीकृष्ण को दौड़कर पकड़ती हैं।

४४८. जननी एक बार वन की ओर देखती हैं, फिर नन्दभवन के शिखर के ऊपर अवस्थित कलश की ओर। ४४९. जननी मन ही मन काँप उठती हैं। सोचती हैं इसे इतनी दूर खेलने जाने से किसी प्रकार रोकना ही है। ४५०. वे भय की मुद्रा बनाकर कहती हैं -

दूरि खेलनि जनि जाहु लाल मेरे वन में आये हाऊ।

४५१. श्रीकृष्ण 'हाऊ' की बात सुनकर हँस पड़ते हैं। ४५२. मैया हाऊ की विभीषिका का वर्णन करती हैं। ४५३. श्रीकृष्ण बड़े ध्यान से सुनते हैं। ४५४. मैया कहती - अब लाल ! शीघ्र अपने घर को चले चलें। ४५५. श्रीकृष्ण-बलराम को पुकारते हैं। ४५६. बलरामजी भी आ जाते हैं। ४५७. दोनों मैया से, हाऊ की बात सुनते हुए उसकी अँगुली पकड़े घर को, चल पड़ते हैं। ४५८. सहसा बलराम के मुख पर विचित्र तेज आ जाता है। एक विचित्र सी हँसी उनके मुख पर छा जाती है। वे बोलने लगते हैं -

"चारि वेद लै गयो शंखासुर जल में रह्यौ लुकाऊ।
मीनरूप धरि कैं जब मार्‌यौ तबहिं रहे कहँ हाऊ।।
मथि समुद्र सुर-असुरन के हित, मंदर जलधि धसाऊ।
कमठ रूप धरि धर्यौ पीठ पर, तहाँ न देखे हाऊ।।
जब हिरनाच्छ युद्ध अभिलाष्यौ, मन में अति गरवाऊ।
धरि बाराह रूप सो मार्यो लै छिति दंत अगाऊ।।
विकट रूप अवतार धर्यो जब, सो प्रलाद बचाऊ।
हिरन कसिपु-वपु नखनि बिदार्यो, तहाँ न देखे हाऊ।।
वामन रूप धर्यो बलि छलि कैं, तीनि पगन वसुधाऊ।
श्रम जल ब्रह्म कमंडलु राख्यौ, दरसि चरन परसाऊ।।
मार्यो मुनि बिनहीं अपराधहिं, कामधेनु ले आऊ।
इक्किस बार निछत्र करी छिति, तहाँ न देखे हाऊ।।
राम रूप रावन जब मार्यो दस सिर बीस भुजाऊ।
लंक जराइ छार जब कीनी, तहाँ न देखे हाऊ।।
भक्त हेत अवतार धरे, सब असुरनि मार बहाऊ।
सूरदास प्रभु की यह लीला निगमनेति नित गाऊ।।

इस प्रकार आवेश में बलराम जी बोलते जाते हैं।

४५९. जननी हँसकर बलराम का मुख पौंछकर कहती हैं - "अरे बेटा तू तो बहुत बड़ी बड़ी बातें सीख गया रे। ४६०. बायीं ओर श्रीकृष्ण दाहिनी ओर बलराम जननी की अँगुली पकड़े घर पहुँचते हैं। ४६१. जननी उन्हें अन्तर्गृह में ले जाती हैं, दोनों के हाथों में सुन्दर सुपक्व बेसन और गेहूँ मिश्रित मिस्सी रोटी और एक एक उज्ज्वल नवनीत पिण्ड रख दिया है। ४६२. बलराम रोटी पाते ही हँसते हुए रोहिणी जी के पास भाग जाते हैं। ४६३. श्रीकृष्ण की विकसित अरविन्द जैसी हथेली पर माखन-मण्डित-रोटी की शोभा विलक्षण है। ४६४. अपने अम्बुजकोष-सदृश-मुख को खोलकर धीरे-धीरे माखन-रोटी वे मुख के भीतर ले जाते हैं, तथा उल्लास भरे नेत्रों से जननी की ओर देखते हैं। ४६५. इतने में नन्दरायजी आ जाते हैं। श्रीकृष्ण रोटी को आधी खायी छोड़ बिना मुख धोये बाबा की धोती से लिपट जाते हैं, कहते हैं - "बाबा, तुमने अभी तक कलेवा किया ही नहीं और मैं दो बार माखन खा आया। क्या तुम्हें भूख नहीं लगती ? ४६६. श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य करके अपने बाबा को रिझा रहे हैं। ४६७. श्रीकृष्ण के नग्न-नील-अंगों से ज्योति झर रही है। वन्धूकवर्ण अधरों पर हास्य है। जननी के द्वारा स्नेह से सँवारी चोटी पर हाथ रखकर उल्लास में भरे वे समस्त अंगों से थिरक-थिरक नाच रहे हैं। ४६८. श्रीकृष्ण के अधरों से सुधासिक्त रोटी के उस टूक को एक भाग्यवान् काग खा रहा है। नवनीत खंड उससे खाया नहीं जा रहा है, उसका सम्पूर्ण मुख धवल हो गया है। वह रोटी लेकर उड़ता है, नवनीत खंड पुनः धरा पर गिर जाता है। एक वानर उसे उठाकर खाता है।

४६९. एक ग्वालिन प्रत्याशा लगाये हुए है, व्रजरानी उसे कोई गृहकार्य बतावें जिससे वह श्रीकृष्णचन्द्र का मुख कुछ काल तक और देखती रह पावे।

४७०. नन्दरानी उसे खड़ी देखकर कहती हैं -

पाहुनी कर दै तनिक मह्यौ।
हौं लागी गृहकाज रसोई यशुमति विनय कह्यौ
आरि करत मनमोहन मेरो अंचलि आनि गह्यौ

४७१. अब तो उसके आनन्द का पार नहीं है। आनन्द में निमग्न वह मथानी की ओर चली। ४७२. उसकी दृष्टि तो यशोदा के अंक में विराजित श्रीकृष्ण को एकटक देख रही है। अतः मथानी से उसके पैर टकरा जाते हैं।

४७३. नेत्र श्रीकृष्ण के रूप पर ऐसे लुब्ध हैं कि दधि की मटकी का पूरी तरह उलट जाना, दधि का बह जाना उसे कुछ भी ध्यान नहीं है। ४७४. वह तो देख रही है -- कुञ्चित-केश-कलाप, ललाट का वह केसर-बिन्दु, रतनारे चंचलनयन, सुढार युग्म-कपोल, अरुणिम अधर, कठुला-भूषित कम्बुकण्ठ, व्याघ्र-नख-राजित वक्षस्थल, सुन्दर नाभिकमल, किंकिणी-भूषित कटि देश, सुकोमल छोटे बाहु-युगल, हस्तकमल, सुन्दर मनोहर जानु, गुल्फ, चरण-तल, मथानी को देख सकें नयनों में इतना अवकाश ही नहीं था।

४७५. मथानी के पास अनुमान से जा पहुँची, देख नहीं पायी, चरणों से दधिपात्र उलटा हो गया, दही-धारा बह चली। ४७६. अभी भी वह इतना ही समझी मटका मात्र तिरछा हुआ है उसमें दधि ज्यों-का-त्यों है। ४७७. नेत्र तो वहीं उसी शोभा में विजड़ित हैं। ४७८. अतः अनुमान से ही मटका सीधा कर वह बिलोना प्रारंभ कर देती है। ४७९. प्रेम-विवश ग्वालिन यह नहीं जानती कि रीते पात्र में ही मन्थन दण्ड चल रहा है, दही तो बाहर बह गया है। ४८०. श्रीकृष्णचन्द्र माता की गोद में स्तन पीना छोड़कर ग्वालिन की प्रेम दशा देख रहे हैं। वे हँसकर जननी को ग्वालिन की दशा दिखाते हैं। ४८१. जननी देखकर कहती है - "हैं ! माखन कहां से निकलेगा, दधि तो बह गया ? री पगली ! नैकु अपने कौं सँभार। अब तो ग्वालिन को दधिपात्र की वास्तविकता का पता चलता है। ४८२. वह बहुत संकोच में पड़ती है कि उससे यशोदारानी का इतना दधि विनष्ट हो गया, एवं यशोदा संकोच करती है कि उसकी मेरे लाला से लगी प्रेम-समाधि में उसने व्यवधान उपस्थित कर दिया। ४८३. दूसरे दिन वह ग्वालिन पुनः आई है। आज मैया श्रीकृष्ण को कजरी गैया का दूध पिलाना चाह रही है। श्रीकृष्ण हठ कर बैठे हैं, दूध पीते नहीं। ४८४. जननी की बुद्धि में एक आकर्षक उपाय उपजता है। वे कहती हैं --

कजरी को पय पियहु लाल मेरे जासौं बेनि बढै।

४८५. इस प्रलोभन में श्रीकृष्ण आ जाते हैं। ४८६. कजरी का दूध पीने से मेरी चोटी बढ़ जायेगी इस उल्लास में वे दूध पीने लग जाते हैं। परन्तु साथ ही साथ वे अपनी चोटी पर हाथ रखकर तत्क्षण ही बेनी बढ़ने का अनुभव करना चाह रहे हैं। ४८७. जब बेनी बढ़ी नहीं दिखती, उतनी ही समझ में आती है तो उस समय उनके आनन-सरोज पर विविध भाव-लहरियों

की शोभा देखते ही बनती है। ४८८. पराजय का रोष, भविष्य में कभी दूध नहीं पीने का रोषमूलक निश्चय, जननी के प्रति अविश्वास, दुग्धपान-जन्य स्वाभाविक तृप्ति सब भाव एक साथ उनके कमनीय मुख पर व्यक्त हो रहे हैं। ४८९. अपने को सर्वथा विस्मृत किये ग्वालिन श्रीकृष्ण की मुख-शोभा-पान करने में पूर्णतया निरत है। ४९०. जननी से रूठे हुए श्रीकृष्ण उधर उससे टकरा जाते हैं। ४९१. वह पूर्णतया बाह्य-ज्ञान शून्य हो गयी। पूरे आठपहर वह प्रस्तर प्रतिमा बनी रहती है। ४९२. आज तीसरे दिवस वह पुनः आयी है। मैया विविध पक्वान्नों से भरी थाली लिये अपने कन्हैया को खिलाना चाह रही है। ४९३. गोपसुन्दरी श्यामसुन्दर के ठीक पीछे खड़ी उनके मधुर वचनामृत सुनकर मत्त हो जा रही है। ४९४. श्रीकृष्ण कह रहे हैं -

"मैया री मोहि माखन भावै
"जो मेवा पक्वान्न कहति तू, मोहि नहीं रुचि आवै।"

४९५. इस मत्तता के आवेश-वश उसके मन में एक संकल्प जाग उठता है। क्या ऐसा संभव है कि मेरे घर में मैं दधिमंथन करके छुप जाऊँ और श्रीकृष्ण मेरे घर आकर निस्संकोच मेरे घर का नवनीत रुचि भर खावैं। मेरे नेत्रों की यह साध कभी पूरी होगी क्या ? "सूरदास प्रभु अन्तरजामी ग्वालिनी मन की जानी" ४९६.ग्वालिन नन्दभवन से लौटकर अपने घर पहुँची। ४९७. यंत्रचालित से उसके हाथ दधिमंथन कर रहे हैं। ४९८. रह-रहकर वह द्वार की ओर देखती है, उसे श्रीकृष्ण की उपस्थिति का सन्देह होता है। ४९९. वाञ्छाकल्पतरु ब्रजेन्द्रनन्दन वास्तव में ही उसके घर की ओर चल पड़े हैं ५००. गोपसुन्दरी के नन्दभवन से लौटते ही श्रीकृष्ण मैयायशोदा की गोद से भाग चले थे। ५०१. क्षणभर का भी विलम्ब आज उन्हें असह्य हो रहा है। **"गये श्याम तिहिं ग्वालिन के घर देख्यौ नहीं कोउ इत उत !!"** श्रीकृष्ण आज सर्वथा एकाकी ग्वालिनि के घर आये हैं। ५०२. ग्वालिन चकित है। "सचमुच ही श्रीकृष्ण मेरे द्वार पर खड़े हैं" - ग्वालिनि विद्युद्गति से मणिखंभ की ओट में अपने को छुपा लेती है। ५०३. श्रीकृष्ण चुपचाप भीतर प्रवेश कर, जाते हैं। ५०४. ओह ! उनकी अतुलित शोभा उस समय कैसी है ?

मुख पर चन्द डारौं वारि।
कुटिल कच पर भ्रमर वारौं, भौंह पर धनुवारि।
भाल केसर तिलक छबि पर मदन सत-सत वारि।।

५०५. श्रीकृष्णचन्द्र ग्वालिन के मनोरथ को पूर्ण करने की लीला कर रहे हैं। पास ही नवनीत पूर्ण पात्र पड़ा है। वे पात्र में से माखन निकाल-निकाल कर खाने लग जाते है। ५०६. मणिस्तंभ में उन्हें अपना प्रतिबिम्ब दिखता है। ५०७. उन्हें लगता है जैसे एक अन्य शिशु भी उनके साथ चला आया है। ५०८. वे उससे वार्तालाप करते है - "भैया तू किसी से कुछ कहना मत ! हम लोग साथी हैं। यह ले तू भी खा।" श्रीकृष्ण प्रतिबिम्ब के मुख पर नवनीत का लौदा ड़ालते हैं। परन्तु लौंदा गिर जाता है। "नहीं, नहीं, यह तो उचित नहीं, तूने यह मक्खन गिरा क्यों दिया ? क्या सभी अकेला लेना चाहता है। नहीं यह नहीं हो सकता। तुझे अधिक से अधिक एक कमौरी दे सकता हूँ।" ५०९. नन्दनन्दन की मुग्ध चेष्टा देखकर ग्वालिन जोर से हँस उठती है। ५१०. श्रीकृष्ण चन्द्र ग्वालिन को देख लेते हैं। एक अप्रतिम सुमधुर संकोच की छाया नन्दनन्दन के मुखचन्द्र को आवृत कर लेती है ५११. वे तुरन्त वहाँ से कुंज वीथी की ओर भाग चलते हैं। ५१२. बडभागिनी गोपसुन्दरी आनन्दातिरेक वश बाह्यज्ञानशून्य आत्मविस्मृत है। उसकी अद्‌भुत विचित्र दशा देखकर अन्य गोपसुन्दरियाँ चकित हो रही हैं।

गुरु प्राप्ति की चिन्ता

पू० गुरुदेव का तीन लाख प्रतिदिन नामजप चल ही रहा था, साथ ही वे इस प्रकार पाँच हजार वाक्यों में अपने मन को दौड़ाते हुए श्रीमद्‌भागवद्‌गीता में वर्णित श्रीकृष्णलीलाओं में मन उलझाने लगे। लीलाएँ पू. गुरुदेव के सम्मुख ज्यों-ज्यों मूर्त होने लगीं, त्यों-त्यों पू. गुरुदेव श्रीकृष्ण को सुखी करने वाले प्रेम को प्राप्त करने को व्याकुल रहने लगे।

वे चिन्तित रहते कि उनके हृदय में इस रसमय प्रेम का बीज कैसे पड़े ? उन्हें ऐसे प्रेमीजन कहाँ से मिलें जिनके संग के मधुमय परम निर्मल भावरस से यह प्रेम सींचा जाता है। प्रेमीजनों की प्रेम-चर्चा रूपी अनुकूल हवा पाकर वह फिर बीज रूप में नहीं रहकर अंकुरित होता है। उन्हीं के निरापद सत्संग में वह पल्लवित होता है, पुष्पित होता है। तदनन्तर अपने प्राणवल्लभ प्रियतम नीलसुन्दर को यह मीठा प्रेमफल प्रदान करता है। इस फल से प्रियतम को परम आनन्द की प्राप्ति होती है। फिर श्रीकृष्ण के मन में इस मीठे फ़ल को परिमाणरहित रूप में पाने की लालसा बढ़ती ही जाती है, एवं वे

उस मधुर फल के प्रदाता रस-समुद्र अपने प्रेमास्पद को पलभर के लिये भी नहीं त्यागते। वे गंभीर विचार में पड़ जाते - "श्री चैतन्य महाप्रभु जैसा महा प्रेमी रससिद्ध सन्त इस धरातल में क्या आज है ? फिर वह मुझे कैसे प्राप्त होगा ? क्या मुझे वह गुरु रूप में प्राप्त हो सकेगा ? क्या वह मुझे अपनायेगा? यह राधातत्व क्या है ? श्रीवृन्दावन का स्वरूप क्या है ? कुंज-निकुंज कैसे हैं ? गिरिराज पर्वत का वास्तव में चिन्मय स्वरूप कैसा दिव्य है ? मेरा गोपी शरीर क्या है ? उसका नाम क्या है ? मेरे भाव-शरीर के माता-पिता कौन हैं ? मेरी सखियाँ कौन-कौन हैं ? श्री राधाकृष्ण की सरस उपासना की पद्धति क्या है ? मैं किसकी सन्निधि में अष्टयाम सेवा करूँ। मेरी सेवा का स्वरूप क्या हो ? मेरे लीला-चिन्तन का शास्त्रीय आधार क्या हो ?

यह सत्य है - सर्वातीत, सर्वमय, सब लोकों के एकमात्र आधार, सबके नियन्ता ईश्वर श्रीकृष्ण मेरे दृष्टिपथ में रहते हैं। वे एक पल के लिये भी मुझे छोड़ते नहीं हैं। वे अवश्य मेरी इन समस्याओं का भी कोई समाधान अवश्य ढूँढ़े हुए हैं। वे स्वयं ही परम प्रेमस्वरूप गुरुदेव के रूप में मेरे सम्मुख अवश्यमेव प्रकट होंगे। परन्तु वह कृपा का शुभ दिन कब होगा ?

पू. गुरुदेव की उन दिनों जब से वे कलकत्ते में यावज्जीवन पोद्दार महाराज के संग का निर्णय करके उनके ही साथ-साथ गोरखपुर रहने आ गये थे, उपर्लिखित गंभीर समस्यायें थीं।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या किसी भगवत्प्राप्त व्यक्ति को भी किसी साधना के लिये भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य गुरु की आवश्यकता होती है ? जब स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के उनको अखण्ड अष्टयाम दर्शन होते थे, तो फिर उन्हें अन्य किसी भी गुरु की क्या आवश्यकता थी ? यह पहला प्रश्न होता है।

दूसरा प्रश्न है - श्रीपोद्दार महाराज ने पू. गुरुदेव को उनका चरण स्पर्श करके शक्तिपात द्वारा उन्हें सगुण साकार भगवान के दर्शन करवा दिये थे। इन भगवान् ने गीता के १८ वें अध्याय के 'य: इमं परमं गुह्यं'' श्लोक की नवीन व्याख्या करके यह भी सिद्ध कर दिया था कि वे ही परात्पर परब्रह्म की प्रतिष्ठा-साधना के सर्वोच्च पद हैं, वे ही ईश्वरों के महेश्वर एवं सबकी चरम एवं परम गति हैं। ये ही ब्रह्म, रुद्र, शुक, नारद, भीष्म, सनकादि के परम वन्दित चरण हैं ; तब पू. गुरुदेव के श्रीपोद्दार महाराज तो गुरु बन ही गये थे,

फिर किसी अन्य गुरु की दीक्षा की क्या आवश्यकता शेष रही थी ? ये यहाँ दो प्रश्न विचारणीय हैं।

वास्तव में तत्वत: श्री राधा एवं श्रीकृष्ण दो तत्व नहीं हैं। एक ही हैं, परन्तु फिर भी प्रेमभाव की साधना में आश्रय और विषय दो तट प्रत्यक्ष परिलक्षित होते हैं। प्रेमभाव की 'आश्रय' हैं श्री राधारानी एवं इसी प्रीतिभाव के विषय 'श्रीकृष्ण' हैं। प्रीतिभाव की 'आश्रय' श्री राधारानी की ही कायव्यूहरूपा गोपियाँ एवं मंजरियं है। अत: निकुञ्जलीला में प्रवेश कराके गोपी भावापन्न अथवा मंजरी भावापन्न होने की योग्यता श्रीराधारानी की ही कृपा से संभव है। निकुञ्जलीला का यही सौरभ है कि यहाँ स्वयं रसराज श्रीकृष्ण भी बिना गोपियों की आज्ञा के, उनकी अनुमति के बिना, उनकी प्रीति लाभ किये बिना प्रवेश नहीं कर सकते, फिर अन्य जीव की गति ही कैसे संभव है।

इसीलिये इस निकुंज साधना में याज्ञवल्क्यादि, दुर्वासादि एवं सनकादि की भी गति नहीं है। इस महादुर्लभ रस में इनका प्रवेश ही नहीं हैं। याज्ञवल्क्य एवं सनकादि नित्य परमपूज्य एवं वन्दनीय हैं। परन्तु उनका क्षेत्र दूसरा है महाभाव रसराज का वक्र आनन्द, उच्छलित आनन्द उनके लिये दुष्प्राप्य ही है। वक्र शब्द जहाँ व्रजरस की गति की ओर संकेत करता है वहाँ उच्छलित शब्द उसके उद्वेलन को लेकर है। यह विचित्र रस उन ऋषि मुनियों की परिधि के परे की वस्तु है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु की कोटि के रससिद्ध सन्त तो स्वयं श्रीराधारानी के स्वरूप ही होते हैं। वैसे प्राय: उच्च कोटि के रससिद्ध संत किसी उच्च महाभावापन्न सखी अथवा मंजरी के प्रतिनिधि रूप होते हैं। ऐसी गोपी भावापन्ना किसी सन्त से दीक्षा हुए बिना निकुञ्जलीला में प्रवेश प्राय: होता नहीं है। यह रस की अनादि सिद्ध परिपाटी है। श्रीपोद्दार महाराज ऐसे ही बहुत ही उच्च कोटि के रससिद्ध सन्त थे। उन्होंने निर्गुण निराकार मत के परमाग्रही पू. गुरुदेव को चरण स्पर्श करके सगुण साकारवादी बना दिया था। उन्हें साक्षात् सगुण-साकार वृन्दावनेश्वर के दर्शन कराये, परन्तु यह कृपा उन्होंने अपने सिद्ध सन्तस्वरूप से ही की थी। यहाँ उन्होंने अपने महाभाव-मय रससिद्ध राधाभाव भावित स्वरूप को संगुप्त ही रखा था, क्योंकि राधाभाव की विलक्षण अति उच्च प्रीतिस्थिति को प्राप्त करने के पू. गुरुदेव उस समय सर्वथा अनधिकारी थे। वे तो रासलीला आदि श्रीमद्भागवद्गीता के

प्रसंगों को प्रक्षिप्त मानते थे, उनकी मखौल उड़ाया करते थे। अतः कृपाशक्ति ने उन्हें मात्र वृन्दावनेश्वर श्री कृष्ण के, कदम्बवृक्ष के नीचे स्थित रूप के ही दर्शन पाने का अधिकारी माना था।

अब उनकी उत्कट जिज्ञासा भक्तिलीला बीज को प्राप्त करने की हो रही थी। यथार्थतः यही तथ्य है कि श्रीकृष्ण दर्शन तो सुलभ है, वे तो असुरों, दुर्योधनादि कृष्णद्वेषी जनों को भी दर्शन दे देते हैं, परन्तु भक्तिलीला का बीज तो उद्धवादि श्रीकृष्ण के अन्तरंग सखाओं को भी गोपियों की चरणधूलि की कृपा से ही मिल सकता है। श्रीकृष्ण भगवान स्वयं भी किसी को अपना प्रेम नहीं दे सकते। भगवान श्रीकृष्ण को भी अपना प्रेम देने के लिये राधा रूप ही ग्रहण करना पड़ता है अतः जबतक पू. गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के सखी स्वरूपा सिद्धदेह से सम्पर्कित नहीं होते उनका निकुंजलीला में प्रवेश असंभव था।

श्री मन्महाप्रभु ने श्री सनातनगोस्वामीपाद को शिक्षा देते हुए मध्यलीला के बाईसवें परिच्छेद के ४८ वें पयार छन्द में कहा है - "कृष्ण भक्ति जन्म मूल हय साधु-संग' यहाँ साधु का अर्थ गोपीभावापन्न किसी रससिद्ध सन्त से ही है।

श्रीमन्महाप्रभु श्री रूपशिक्षा में भी कहते हैं -

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाये भक्तिलता बीज ।।१३।।

यह भक्तिबीज महत्कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ केवल कृष्णकृपा उन्होंने नहीं कहा वरं 'कृष्णप्रिया' का ही वाचक यहां 'गुरु' शब्द है। कृष्ण-प्रिया गोपीजन एवं श्री राधारानी ही प्रीतिभक्ति का बीज प्रदान कर सकती हैं - यही तात्पर्य है।

प्रेम' कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा का नाम है। कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी सेवा के द्वारा श्रीकृष्ण को सुखी करने की जो इच्छा है, उसका ही नाम प्रेम है। वस्तुतः जीव के प्राकृत चित्त में ऐसी इच्छा स्वतः उदय कदापि नहीं हो सकती। साधनभक्ति का अनुष्ठान करते-करते जब चित्त शुद्ध सत्व के आविर्भाव की योग्यता प्राप्त करता है तब महत्कृपा से चिद्शक्ति के वैचित्र्यी विशेष का बीज साधक पर पड़ता है। तब अप्राकृत भगवल्लीला के उन्मेष को धारण करने वाली आसक्तिका उसमें उदय होता है। तब अप्राकृत विशुद्ध

सत्वमयी भगवल्लीला का प्रकाश एवं उसमें रति होती है और यही रति उत्कर्षता को प्राप्त कर प्रीति में परिणत होती है।

यथार्थ प्रेम साधना में भावदेह द्वारा ही साधना होती है। शास्त्र का कोई भी विधि-निषेध इसमें नहीं रहता। जबतक इस मायिक देह में अभिमान रहता है, तबतक प्रेम साधना तो बहुत ही दूर की बात है, ज्ञान-साधना भी संभव नहीं है। भावजीव का मूल स्वभाव ही होता है। प्रत्येक जीव का मूलस्वभाव शान्तरस प्रधान है, दास्यभाव प्रधान है, सख्यरस प्रधान है, वात्सल्यरस प्रधान है अथवा मधुररस प्रधान है, यह उसकी स्वयं की दृष्टि नहीं पहचान आती है।

नाम साधना एवं अन्य किसी भी प्रकार की साधना का तभी तक औचित्य है जब तक कि सद्गुरु नहीं मिलते। प्रारंभिक साधना वास्तविक साधना होती ही नहीं। जबतक सद्गुरु की कृपा नहीं होती तबतक आन्तरिक सत्यभाव में प्रवेश ही नहीं मिलता। गुरु प्राप्ति होने पर ही दीक्षा होती है। दीक्षा के पश्चात् ही गुरुदेव द्वारा सच्चे भावदेह का प्रकाश होता है।

भाव की दो विशेषताएँ हैं। एक भाव का आश्रय आलंबन है, दूसरा विषयालंबन। भाव आश्रय-विषय का अवलंबन करते हुए ही संचरित होता है। भाव का आश्रयालंबन हैं - श्रीराधा, सखागण, यशोदादि वात्सल्यवती गोपियाँ, दास्यरति प्रधान दासियाँ, वसुदेव-देवकी आदि भक्तगण। यह सब देहधारी आत्मा हैं। परन्तु इनका देह मायिक सर्वथा नहीं है। इनके स्थूल, सूक्ष्म, कारणादि देह नहीं होते । जैसे देह के रहने पर आत्मा को उसके प्रति अभिमान होता है, उसी प्रकार भाव के जागरण पर भावदेह में भी अभिमान होता है। इस स्थिति में साधक का स्थूलदेह किसी भी प्रकार का विक्षेप नहीं कर पाता। अगर ऐसा करता है तो समझना चाहिये कि जागतिक देहाध्यास अभीतक मिटा नहीं है। उदाहरण स्वरूप एक अस्सी वर्ष के वृद्ध का भाव दुधमुँहे शिशु का हो सकता है। वृद्ध जब माँ की उपासना करता है तो वह भावरूप में शिशु हो जाता है। इसी प्रकार एक बलिष्ठ पुरुष कोमलांगी स्त्री हो जाता है। जबतक भावदेह में अभिनिवेश नहीं होता, पूर्णतया स्व का अभिमान नष्ट नहीं होता, तबतक काल्पनिक शेखचिल्ली की कल्पना भले ही कोई करे भावसाधना संभव नहीं है। भावदेह अमूर्त नहीं होती, आकार विशिष्ट होती है। उसके हाथ-पैर, आँख-नाक, मुख, सौन्दर्य, सौरभ, माधुर्य, स्वभाव, उसकी कामनाएँ, रुचि, उसमें उग्रता, शील कोमलता, उसमें अपना-परायापन, उसका

घर-द्वार, माता-पिता, भाई-बन्धु, पति-पुत्र, उसका धन, मान, मर्यादा, लज्जा, कुल, गोत्र सब होता है।

भाव का आश्रय रूप जब भाव में प्रकट होता है तो भाव का विषयालंबन भी प्रकट होता है। भावदेह के प्रकट होते ही भाव के विषय का आविर्भाव स्वाभाविक ही होता है। जैसे ही शिशु भाव परिपक्व होता है स्वाभाविक ही माता का भी प्रकाश अपने आप हो ही जाता है। प्रिया भाव के प्रकट होते ही प्रियतम विषयालंबन स्वभावतः ही प्रकट हो जायेंगे। यदि किसी के सम्मुख विषयालंबन का प्रत्यक्षीकरण नहीं है तो यही मानना चाहिए कि आश्रयालंबन भी परिपक्व नहीं ही हुआ है। विषयालंबन और आश्रयालंबन दोनों का प्रकाश युगपत् एक साथ अवश्यंभावी रूप से ही होता है। भाव का आश्रयरूप जब भावदेह में प्रकट होता है तब धाम का भी स्वतः प्राकट्य हो जायगा। देह के जन्म लेते ही जैसे उसका घर-द्वार, मातापिता होते हैं वैसे ही भावदेह के प्रकट होते ही उसका भी पूरा संसार स्वभावतः अपने आप प्रकट हो जाता है।

यह भाव ही परिपक्व होकर प्रेम में परिणत होता है। भाव प्रेम में परिणत होते ही भगवत्स्वरूप स्वतः आविर्भूत होता है। उसका आह्वान नहीं करना पड़ता। उदाहरण के लिये अगर मातृभाव को लिया जाय तो समझना चाहिये कि भावदेह रूप शिशुभाव की परिपक्वता होते ही, प्रेम प्राप्त होता है और तत्क्षण ही प्रेम मातृस्वरूप विषय का आविर्भाव कर देता है। यह एक प्रकार से प्रेमसिद्धि है। प्रेम प्राप्त होते ही प्रेमाधार प्रियतम एवं प्रेमाश्रय प्रिया समानाधिकार हो जाते हैं। अर्थात् प्रियतम के आलिंगन में प्रिया बद्ध हो जाती है। माँ की गोद में शिशु बैठा ही होता है, शिशु का धाम माँ की गोद ही है। लेकिन यह भी प्रीति का चरम विकास नहीं है। प्रीति का विकास रस में होता है, भावदेह में द्वैत रहता है। प्रिया के साथ प्रियतम का एवं प्रियतम के साथ प्रिया की अभेद उपलब्धि नहीं होती। आगे चलकर भाव रसमय हो जाता है तो यह स्नेह संज्ञक बन जाता है। यह रसमयी हुआ भक्त दिव्यलीला में प्रवेश पाता है। स्नेह तक प्रियतम ऊर्ध्व एवं प्रिया नीचे रहती हैं। स्नेह के पश्चात् ज्यों ही यह रस 'मान' भाव में प्रवेश करता है भक्त ऊर्ध्व हो जाता है और भगवान नीचे हो जाते हैं। भगवान भक्तकामी हुए भक्त को मनाते हैं और भक्त रूठता है। प्राकृत शब्दों में इस पवित्रतम भाव को प्रकट करना असंभव है।

विलक्षण दिव्य स्वप्न

पू. गुरुदेव इन्हीं चिन्ताओं में थे, तभी उन्हें एक विलक्षण दिव्यस्वप्न हुआ। भगवान श्रीकृष्ण की कृपाशक्ति ही इस स्वप्न के रूप में उनके सम्मुख व्यक्त हुई थी।

स्वप्न में श्रीपोद्दार महाराज की धर्मपत्नी उनके सामने खड़ी थी। उनका उस समय साधारण पाँचभौतिक शरीर सर्वथा नहीं था। वे अप्राकृत दिव्य भगवती स्वरूप धारण किये हुए थीं। अनके चतुर्दिक विलक्षण रक्तवर्ण का तेज विकीर्ण हो रहा था। रोम-रोम से कोटि-कोटि सूर्य समप्रभ प्रकाशरश्मियाँ निरन्तर प्रस्फुटित हो रही थीं। इस विलक्षण तेजपुंज महिला -- जिसकी शरीराकृति पू. पोद्दार महाराज की धर्मपत्नी जैसी ही थी -- को देखकर पू. गुरुदेव ने स्वप्न एवं जागरण सब समय अपने हृदय में प्रकट वंशी विमोहन श्रीकृष्ण से ही पूछा कि ये कौन हैं ? उत्तर स्वरूप उनके अन्तःकरण में ही एक अति सुमधुर मीठी दिव्य ध्वनि सुनाई पड़ी - "ये ही मेरी समग्र प्रकट-अप्रकट लीला की संरचनाकर्त्री, संचालिका, सूत्रधार महायोगमाया हैं। ये अघटन-घटना-पटीयसी सर्वभवनसमर्था मेरी कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् समर्था महाशक्ति हैं। इन महात्रिपुरसुन्दरी आद्याशक्ति को प्रणाम करो।"

इस दर्शन के साथ २५ वर्ष के तरुण सन्यासी पू. गुरुदेव एक स्तनपायी शिशु हो गये। उनके भावशरीर का आश्रयालंबन रूप तो स्तन पीनेवाला अबोध शिशु हो गया और विषयालंबन जगज्जननी माँ भगवती हो गयीं। उन दिव्य स्वरूपा माँ जगज्जननी ने उस शिशुरूपधारी गुरुदेव को अपनी गोद में उठाकर अपने वक्षस्थल से चिपका लिया।

इसके पश्चात् भगवती ने उन्हें ललिता कुंज का दर्शन कराया। अहा ! कैसा विलक्षण वह कुंज था।

वहाँ पक्षी समूह ऐसी अप्राकृत स्वरलहरी में कलरव कर रहा था मानो सम्पूर्ण राग-रागनियाँ वहाँ मूर्त्त होकर सम्मिलित हुईं समवेत स्वर में गायन कर रही हों। वट के विटपों पर शंखालु वल्लरी छायी हुई थी। मूल-प्रदेश में हरी-हरी तृणराशि अति सुकोमल आस्तरण का निर्माण कररही थी। करीर वृक्ष इस तृणराशि को अतिशय प्रेमभरे निहार रहे थे। शंखालु वल्लरी का अधिकांश भाग पृथ्वी पर ही बिखरा था। द्रुम वट अपनी बाहों रूपी शाखाओं को झुकाकर अपने करपल्लव रूपी छोटी टहनियों को विनीत किये उसे कह रहा

था - "प्रिये ! सब कुछ तेरी प्रेमिल आँखों का ही भ्रम है। इस शशि सुमनावली से जो रह-रहकर झलमल कर रही है,- यह तेरी छाया ही तो मेरे उर में थी, अन्य मेरे हृदय में तेरे सिवा कौन अधिकार कर सकता है ?

इधर सत्वमयी उज्ज्वल अमृतालता नीम के वृक्षों को आलिंगित किये अति सुख से स्वच्छन्द फैल रही थी। उसका प्रसार परम मनोहारी था।

और देखो ! ये कामिनी लतायें प्रजापति की क्रीड़ा केलि की वार्ता वनदेवी को अति सरस भाव से बखान कर रही थीं। इधर गन्धवाह वायु से रजनी गंधा भी अपने प्रेम की अति सरस गाथा निवेदन कर रही थी।

और कुमुदिनी भी क्यों पीछे रहे ! वह हिमकर से उस प्रमत्त हुए अलि की सब करतूत बखान कर रही थी जो उसके कोष में बँधकर अब सुषुप्त हो चुका है।

जगज्जननी माँ भगवती ललिताम्बा शशिशेखरा की गोद में पू. गुरुदेव उसके वक्षस्थल में मुख सटाये आँचल में से मुख छुपाये टुकुर-टुकुर उन कुंजों की शोभा निरख रहे थे। पू. श्री गुरुदेव ने देखा कि श्रीपोद्दार महाराज उन्हीं कुंजों में से विल्ववृक्षों के हरेभरे एक कुञ्ज में विराज रहे हैं। माँ जगज्जननी उन्हें हाथ से संकेत कर रही थी कि इन्हें ही अपना सर्वस्व मान ले।"

इसी समय पू. गुरुदेव की स्थिति जाग्रत अवस्था की हो गयी। जिस समय पू. गुरुदेव उपरोक्त दृश्य देख रहे थे उस समय उनकी दशा न जाग्रत थी, न वे स्वप्न में थे, न ही तन्द्रा में थे। वह कैसी अवस्था थी इसे कोई भी ठीक शब्द नहीं दे सकता। सर्व-साधारण को समझाने के लिये 'स्वप्न देखा' यह शब्द दिया गया है।

पू. गुरुदेव आश्चर्यचकित विस्फारित नेत्र विचार करने लगे - यह क्या दृश्य मेरे सम्मुख प्रकट हुआ ? इससे मैं क्या अर्थ ग्रहण करूँ ? यह मेरी जीवन यात्रा की किस गति को संकेतित कर रहा है ?

इस स्वप्न के पू. गुरुदेव ने दो ही अर्थ लगाये ? पहला, अवश्य ही मुझे मेरे आगे के पथ-निर्देश के लिये भगवती आद्याशक्ति त्रिपुरसुन्दरी की उपासना करनी चाहिये। दूसरा श्रीपोद्दार महाराज ही मेरे वर्तमान और भविष्य के एक मात्र पथ-प्रदर्शक होंगे।

जिस वन में गाय चराते हो, मुरली मुखरित जो है प्रियतम।
उसके उन निभृत निकुंजों के सर्वथा अगम थल में प्रियतम।
जा सकूँ, अतुल वह शक्तिपात तुमने पिंजर छड़ से प्रियतम।
था किया, सदा के लिये मिटा भिखमंगीपन मेरा प्रियतम।

(हे प्रियतम ! जिस वन में तुम नित्य गायें चराने जाते हो, जो सदा मुरली निनाद से मुखरित रहता है, उस वन के निभृत निकुंजों में जो सर्वथा अगम्य स्थल हैं (जहाँ शुक सनकादि सर्वपूज्य ऋषियों का भी प्रवेश नहीं, जो ब्रह्मादि देवों की पहुँच के भी परे हैं) उन निकुंज स्थलियों में मेरा प्रवेश हो सके, मैं उनमें जा सकूं, वह शक्तिपात तुमने पिंजर स्थल की छड़ों से (अर्थात् अपने हनुमानप्रसाद पोद्दार रूप शरीर के हाथों से) किया। हे प्रियतम ! उस कृपा दान के फलस्वरूप तुमने मेरा सदा-सदा के लिये भिखमंगीपना मिटा दिया।)

अध्यात्म साधना में गुरु का स्थान अन्यतम होता है। माता के गर्भ में जिस प्रकार बीज-रूप में सन्तान रहता है और क्रमश: विकसित होकर अंग प्रत्यंग से परिपुष्टता प्राप्त करता है, इसके पश्चात प्रसव क्रिया के माध्यम से बाहर आकर इन्द्रिय-गोचर रूप में प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार गुरु स्वयं अपने आप को हृदय क्षेत्र में दीक्षा के रूप में स्थापित करता है, फिर शिष्य के द्वारा यथाविधि शोधित और रक्षित होकर शिष्य के हृदय से अपने आपको ही प्रकट करता है।

सद्गुरु पूर्ण है, वह सर्वज्ञ है, वह पूर्ण एवं सर्वज्ञान-शक्ति-समन्वित है, वह पूर्ण एवं सर्वकर्ता है, उसमें पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण क्रिया के समन्वय से पूर्ण विज्ञान शक्ति भी आविर्भूत होती है। वह असंभव संभव कर सकता है। उसकी इच्छाशक्ति महाइच्छा से एकमेक होती है। उसे क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं, उसके संकल्प से स्वत: कार्य होता है। उसके मन में कोई कार्य करने की इच्छा नहीं होती, सभी कार्य महाइच्छा के कारण होते रहते हैं। उसमें अपना संकल्प भी नहीं होता, क्योंकि वह अहंकारशून्य होता है। अत: महासंकल्प का ही उसमें बिम्ब पड़ता है। वही उसकी नियंतृ शक्ति होती है।

पू. गुरुदेव ने मई ११, १९३९ ई. को पू. पोद्दार महाराज का अखण्ड जीवन-व्यापी संग करने का व्रत लिया था। यह घटना लगभग जून मास की है। पू. गुरुदेव इन दिनों व्रजभाव-साधना की ऐसी प्रश्नावलियों में उलझे थे जिनका समाधान एक मात्र गुरु ही कर सकता है। ऐसा गुरु जो सिद्ध स्थिति में हो। शास्त्र के अवलोकन-अध्ययन से वे प्रश्न हल नहीं हो सकते थे। विचार शक्ति भी उन समस्याओं को सुलझा नहीं सकती थी। वे प्रश्न हल हो सकते थे मात्र सिद्ध गुरु की अहेतुकी कृपा से ही। पर जो वास्तव में सिद्ध है, वह अपने को सिद्ध बतलाने के लिये व्यक्त होगा नहीं और जो व्यक्त स्तर पर अपने को सिद्ध घोषित करते हैं, उनमें से शायद ही कोई विरला सिद्ध हो।

पू. गुरुदेव के सामने भी कुछ ऐसी समस्याएँ थीं जिनका समाधान वे पाना चाहते थे, परन्तु वे निरुपाय थे। श्रीपोद्दार महाराज सिद्ध स्तर के सन्त थे, पर वे गुरुपद की भावना को अंगीकार करने की भावना से कोसों दूर थे।

उन दिनों पू. गुरुदेव उस कुटीर में रहा करते थे, जो श्रीगंगाबाबू (बाबू गंगाशरण सिंह, गीताप्रेस के कार्य-प्रबंधक) ने अपनी साधना करने के लिये निर्माण करायी थी, एवं उस समय रिक्त ही पड़ी थी। बाद में पू. गुरुदेव के लिये स्वतंत्र कुटिया बन गई। अब इसमें श्रीहरिवल्लभजी ठहरा करते थे। पू. गुरुदेव विचारमग्न अपनी कुटीर के बाहर बैठे थे। विचार की गहरी रेखाएँ उनके मुख मंडल पर अंकित थीं। उसी समय पू. गुरुदेव के सामने का दृष्य बदला। उन्होंने देखा कि मुसकाते हुए पू. पोद्दार महाराज आये हैं। वस्तुतः वे सशरीर आये अथवा नहीं आये, कहा नहीं जा सकता, परन्तु पू. गुरुदेव के लिये तो वे आये ही थे। पू. गुरुदेव की उस समय सर्वथा अप्राकृत स्थिति थी। आते ही उन्होंने पूछा - "बाबा ! आज आप गंभीर कैसे बैठे हैं ?"

पू. गुरुदेव ने उनसे उत्तर में कहा - मेरे मन में एक गंभीर समस्या है। ब्रजभाव सम्बंधी एक उलझन है, जिसका समाधान मात्र गुरुकृपा से ही संभव है परन्तु मैं कहीं जानेवाला नहीं और इसप्रकार का सौभाग्य दिखलायी देता नहीं कि सिद्ध स्तर का कोई सन्त स्वयं आकर मेरे गुरुपद को स्वीकार करे। सिद्धगुरु के बिना मेरे प्रश्नों का समाधान संभव नहीं। आप सब प्रकार से समर्थ हैं, परन्तु आप मेरा गुरुपद स्वीकार करेंगे नहीं।

श्री पोद्दार महाराज ने पूछा - "बाबा ! आपकी समस्या क्या है ?"

पू. गुरुदेव ने कहा - "तो क्या आप मेरे लिये गुरुपद स्वीकार कर सकते हैं ?"

श्रीपोद्दार महाराज ने कहा - "यह कौन सी बड़ी बात है ? यह मैंने कब कहा कि मैं किसी को शिष्य बनाऊँगा ही नहीं।"

पू. गुरुदेव को बहुत ही विस्मय हुआ। उन्होंने आश्चर्य और उल्लास मिश्रित वाणी में तुरन्त पूछ लिया - "आप कहीं मुझसे विनोद तो नहीं कर रहे हैं ? मैं ऐसा इसलिये कह रहा हूँ कि आप किसी को शिष्य रूप में स्वीकार नहीं करते। सच-सच बताइये कि क्या आप मेरे लिये गुरुपद स्वीकार कर लेंगे।"

श्रीपोद्दार महाराज की आँखों की मूक भाषा पू. गुरुदेव के लिये स्वीकृति प्रदान कर रही थी। फिर भी श्रीपोद्दार महाराज ने कहा आप अपनी दोनों हथेली मेरे सामने फैलाइये।

वह दृश्य मनोहर था जिसमें गुरुदेव बने थे तुम प्रियतम ।
थे पकड़ लिये वे हाथ लगी रहती मेंहदी जिनमें प्रियतम ।।

पू. गुरुदेव ने अपनी दोनों हथेली उनके सामने फैला दी। फिर उन्होंने हथेलियों को उलट देने की आज्ञा दी जिससे नख ऊपर हो जावें। पूज्य गुरुदेव ने अक्षरशः उनकी आज्ञा का पालन किया। नखवाला भाग आकाश की ओर एवं हस्त रेखाओं वाला भाग पृथ्वी की ओर कर दिया। इसके पश्चात वे अपनी अँगुली से पू. गुरुदेव अँगुलियों के नखों को स्पर्श करने लगे। पहले कनिष्ठिका के नख का, फिर अनामिका के, फिर मध्यमा के, तब तर्जनी के, और सबके पश्चात अंगुष्ठ के नख का स्पर्श किया। इसी प्रकार से फिर दूसरी हथेली की सभी अँगुलियों के नखों को स्पर्श किया। स्पर्श की क्रिया के समाप्त होते ही श्रीपोद्दार महाराज ने हँसते हुए कहा कि लीजिये, हो गया। इस प्रकार कहकर वे हँसते हुए चले गये।

उनके स्पर्श ने चमत्कार कर दिया। पू. गुरुदेव की सारी उलझनें तत्काल समाप्त हो गयीं। उनके सभी प्रश्न समाधान हो गये। उसी दिन स्वयमेव उन्हें उनके सभी प्रश्नों का हल मिलता चला गया। भविष्य में उनके लिये फिर कोई प्रश्न, कोई समस्या रही ही नहीं। उनके उस स्पर्श का ऐसा प्रभाव हुआ कि कालान्तर के सुदूर भविष्य में व्रजभाव की साधना सम्बन्धी कोई भी व्यक्ति कोई भी समस्या उनके सम्मुख रखता, उस समस्या का तुरन्त हल उन्हें स्फुरित हो उठता।

यह सर्वथा सत्य बात है कि समर्थ गुरु की कृपा का आश्रय मिलते ही सभी प्रश्न हल हो ही जाते है। कृपाश्रित की स्वयं की सारी समस्यायें तो दूर हो ही जाती हैं, इसके अतिरिक्त समर्थ गुरु की कृपा उस आश्रित जन को इतना सामर्थ्य प्रदान कर देती है कि दूसरों की समस्याओं का भी समाधान कर दे, उनकी विघ्न-बाधाएँ भी दूर हो जावें। वह कृपाश्रित स्वयं तो तरता ही है, दूसरों को भी तार देता है। इसी क्षमता की ओर श्री देवर्षि नारदजी ने अपने भक्तिसूत्र में कहा है -

स तरति स तरति स लोकां स्तारयति

जैसे जन्म-जन्म के बुभुक्षित को कल्पतरु वृक्ष मिल जाय, जैसे मृत्यु मुख में पड़े व्यक्ति को अमृत मिल जाय, ऐसी पूर्ण समाधान की दशा उस समय पू. गुरुदेव की थी।

गुरु का शिष्य के प्रति कितना महान असीम वात्सल्य होता है, जो स्नेह एवं वात्सल्य सुख श्रीपोद्दार महाराज द्वारा उस दिन पू. गुरुदेव को मिला वह वास्तव में अकथ्य, अवर्णनीय है।

श्रीपोद्दार महाराज के जाते ही पू. गुरुदेव के चिन्तन की धारा ने एक नया मोड़ ले लिया। पू. गुरुदेव सोचने लगे - क्या यथार्थत: पोद्दार महाराज पांचभौतिक शरीर से मेरे पास आये थे अथवा भगवान श्रीकृष्ण अपनी सर्वभवन-सामर्थ्य से श्रीपोद्दार महाराज का रूप रखकर उन्हें दीक्षा दे गये। छानबीन करने पर ये ही तथ्य परिपुष्ट हुए कि श्रीपोद्दार महाराज ने सूक्ष्म शरीर से भले ही यह कार्य किया हो, स्थूल शरीर से तो वे सर्वथा नहीं ही आये थे।

अगणित अनुभूतियों का प्रकाश

क्या कहूँ तथा क्या नहीं कहूँ, मैं समझ नहीं पाती प्रियतम।
पिंजर को सरका-सरका कर लीला तुमने जो की प्रियतम।।
लजवन्ती लतिका सी अगणित अनुभूति राशि वह है प्रियतम।
वाणी छू लेगी यदि उसको, सिकुड़ेगी ही वह तो प्रियतम।।

हे प्रियतम ! तुमने अपने (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार रूप) शरीर पिंजर को सरका-सरका कर (अर्थात् मेरे निकट ला-लाकर) जो लीलाएँ की है, उनके

संबंध में मैं क्या कहूँ तथा क्या नहीं कहूँ, मैं कुछ भी समझ ही नहीं पाती। ये मेरी एक दो नहीं, राशि-राशि अनुभूतियाँ गिनी नहीं जा सकतीं। अगणित हैं, यदि उनको वाणी छुएगी तो जो अनुभूति की पवित्रता, मर्यादा और सौन्दर्य है उसे पूरा व्यक्त न कर पाने के कारण वह संकोच में गड़ जायगी। हे प्रियतम, हाय ! मैं क्या कहना चाहती थी और जो कह गयी वह तो सर्वथा ही विकृत व्यक्त हो गया एवं जो व्यक्त करना चाहिये था, वह व्यक्त ही नहीं कर पायी।

श्रीपोद्दार महाराज लोगों के लिये विद्वान थे; बुद्धिमान थे, उन्हें हजारों लोग महापुरुष मानते थे, अनेकों ऊँची कोटि के महात्मागण भी उनमें योग की ऊँची से ऊँची विभूतियाँ देखकर अतिश्रद्धा से नमित हो जाते थे। वे अपनी आत्मगोपन-वृति की प्रबलता से सदा दीन, विनयी, अन्य महात्माओं के प्रति श्रद्धालु, सेवा परायण बने रहते थे, सबके सम्मुख अपने को हीन, हेय, तुच्छ ही व्यक्त करते थे, परन्तु सूर्य अपने को कितना ही कुहरा उत्पन्न कर ढ़के, वह प्रकट हो ही जाता है, इसी प्रकार उनकी विभूतियाँ विख्यात (प्रकट) हो ही जाती थीं।

श्रीपोद्दार महाराज में मानवीय गुण भी कम नहीं थे। वे राजनेताओं की कुशलता, उच्च कोटि की नीतिज्ञता से युक्त थे। वे बहुश्रुत थे, बहुविद् एवं आशु कवि थे। उनमें दुर्धर्ष तेज था, जो मात्र एक बार के ही संपर्क में आने पर किसी बड़े-से-बड़े व्यक्ति को भी प्रभावित कर लेता था। परन्तु पू. गुरुदेव के लिये तो वे अंधे की लकड़ी, कंगाल का धन, प्यासे का पानी, भूखे की रोटी, निराश्रयके आश्रय, निर्बल के बल, प्राणों के प्राण, जीवन के जीवन, देवों के देव, गुरुओं के गुरु, सिद्धों के सिद्ध, ईश्वरों के ईश्वर थे। पू. गुरुदेव के लिये श्रीपोद्दार महाराज सर्वस्व थे।

पू. गुरुदेव श्री मदभवद्गीतोक्त इस श्लोक को सदा स्मरण रखते थे -

नाऽहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्यं एवं विधोर्द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।

(हे अर्जुन ! तू उच्च कोटि का तपस्वी है, परन्तु न तो मैं वेद विद्या के द्वारा, न ही कठोर तप से, न सर्वस्व दान से, नही ही अश्वमेघादि महान यज्ञों से इस प्रकार मिल पाता हूँ जैसा अपरोक्ष अनन्य भक्ति से मिल पाता हूँ। अनन्य भक्ति के द्वारा ही मुझे इन्द्रिय-गोचर किया जा सकता है और मुझ में प्रविष्ट होना, एकात्म हो जाना संभव है (अन्यथा तो समग्र बुद्धियों का साक्षी होने से मुझे बुद्धि द्वारा स्पर्श भी नहीं किया जा सकता)

पू. गुरुदेव ने तो भक्ति भी नहीं की थी, उन्हें तो सबकुछ मात्र श्रीपोद्दार महाराज जैसे हेतुरहित कृपा-वर्षी, करुणा-वरुणालय दानी से ही प्राप्त हुआ था।

श्रीपोद्दार महाराज की यावज्जीवन छत्रछाया में पू. गुरुदेव ने बहुत ही सावधानी पूर्वक अपने साधन-पथ की रक्षा की। मार्ग में बड़ी-बड़ी बाधाएँ मुख खोले सुरसा की तरह खड़ी थी। विद्या, बुद्धि, तप, दान, यज्ञ, आदि के अभिमान की बड़ी-बड़ी घाटियाँ थीं, भोगों की अनेक मनहरण वाटिकाएँ थीं; पाण्डित्य, विद्वत्ता एवं शास्त्रज्ञान के अभिमान का जाल माया बिछाये हुए थी। पू. गुरुदेव तो असाधारण विद्वान, लेखक, कवि, वक्ता, बहुभाषाविद्, कुशल संगठनकर्ता, तपोनिष्ठ, सर्वशास्त्रविशारद, ब्राह्मण शरीर थे। माया कहीं भी उन्हें भटकाने में समर्थ थी। परन्तु गुरुश्रद्धा का पाथेय, एकान्त गुरुभक्ति का कवच पहनकर सन्तप्रेम को अपना अंगरक्षक सरदार बनाकर वे माया से निर्भय थे।

अपने परम प्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्ण को पाने के लिये उन्हें इन्हीं गुणों की आवश्यकता थी। कोरे सदाचार का अभिमान अथवा थोथे बुद्धिवाद से श्रीकृष्ण-प्रेम तो उन्हें मिलने वाला था नहीं।

पू. गुरुदेव के हृदय की एक बहुत बडी महिमा थी कि उनकी दृष्टि में पू. पोद्दार महाराज के देह में और उनके इष्ट श्रीकृष्ण में कहीं कोई भेद नहीं था। उनके परम तार्किक मन ने यह निर्विवाद सत्य मान लिया था कि किसी को धनी ही धन दे सकता है। श्रीपोद्दार महाराज स्ववस्तु का ही किसी को चरण-स्पर्श करके दान कर सकते हैं। जो वस्तु पर है वह दी ही नहीं जा सकती। अतएव परात्पर श्रीकृष्ण श्रीपोद्दार महाराज के लिये 'स्व' हैं, 'पर' कदापि-कदापि नहीं हैं। इसीलिये पू. गुरुदेव ने अपने भावों को श्रीकृष्ण-सुख-सुखिया बनाने का यही आदर्श रखा कि उनका मन, बुद्धि, चित्त

एवं इन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टा श्रीपोद्दार महाराज को समर्पित हो।

पू. गुरुदेव का पोद्दार महाराज के प्रति आदर्श आनुगत्य, आदर्श प्रेम, आदर्श त्याग, आदर्श सहिष्णुता, आदर्श समर्पण, आदर्श सेवाभाव जीवनपर्यन्त बना रहा।

पू. गुरुदेव कहा करते थे कि श्रीपोद्दार महाराज ने **'हुआ समर्पण प्रभु चरणों में, मन की बात मनहिं भर जाने, सौंप दिये मन प्राण तुम्हीं को'** आदि जो ऊंचे समर्पणभावी पद लिखे हैं- वे सभी मूलतः उनके ही भावों को उनके काष्ठ-मौन के बाद शब्द दिये हैं।

लेखक ने उनसे जब यह पूछा कि "बाबा ! इस परमोच्च कोटि के समर्पण भाव का आपमें अभ्युदय कब से प्रारंभ हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा - "मैं अक्टूबर-नवम्बर मास में श्रीपोद्दार महाराज के साथ डालमिया दादरी गया हुआ था। दादरी में भगवान् श्रीहनुमानजी का एक मन्दिर था। वहाँ रामायण पाठ हो रहा था। मैं अपनी पूजा में बैठा था, अचानक मेरे अन्तःकरण में विराजित श्रीकृष्ण ने मेरा ध्यान गायन होती हुई एक चौपाई पर केन्द्रित कर दिया । वह चौपाई थी -

एक हि धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति पद प्रेमा ॥

पू. गुरुदेव में इस चौपाई को सुनते ही गोपी-भाव की जाग्रति इतनी प्रगाढ़ हो गयी कि वे बराबर ही पुरुष भाव को भूले रहने लगे। जो भाव १९३७ में गीताप्रेस के कमरे में थोड़े काल के लिये जाग्रत हुआ था यहाँ यह भाव सदा के लिये स्थिर हो गया। पू. गुरुदेव का यह प्रमदा नारी-भाव इतना प्रगाढ़ था कि उनके द्वारा पत्र लेखन ही असंभव होगया। वे पत्र लिखते-लिखते अपने को प्रगाढ़ स्त्री-भाव में अनुभव करने के कारण स्त्रीलिंग की कियायें प्रयुक्त कर दिया करते थे।

उस समय वे सोचने लगे :- "हाय ! इस विश्व में मेरा कौन है ? मेरे जन्म मरण के एक ही तो साथी हैं। मेरी जीवन-यात्रा में एक ही संगी हैं, और वे हैं श्रीपोद्दार महाराज रूपधारी श्रीकृष्ण। बस उसी क्षण मेरे मन में निश्चय होगया कि अपने जीवन का क्षण-क्षण तथा अपनी शक्ति का कण-कण श्रीपोद्दार महाराज की रुचि पूर्ति के लिये ही व्यतीत कर दूँगा। जगत में जो भी मेरा प्रेम, विश्वास एवं आत्मीयता का संबंध है, सबओर से सभी बंधनों को खोलकर मैं मात्र श्रीपोद्दार महाराज के चरणों से बाँध दूँगा।

"श्रीकृष्ण कोई पदार्थ थोड़े ही हैं जो कोई रुपये, पैसे, जमीन, मकान की तरह किसी को प्रदान कर दे। श्रीपोद्दार महाराज का सच्चिन्मय अपरोक्ष अस्तित्व ही तो श्रीकृष्ण हैं। वे श्रीकृष्ण ही वृन्दावन, गोपी और श्रीराधा हैं। अतः मेरा संसार तो मात्र श्रीपोद्दार महाराज ही हैं। मेरी सम्पूर्ण मति, गति, एवं प्राप्ति ये ही हैं। अवश्य ही ये मेरे भाव मैं सबसे संगोपित रखूँगा परन्तु अन्तर्हृदय से मेरा मन, तन, योग्यता, मेरी गुणराशि, सब उनको ही समर्पित होती रहेगी।"

पू. गुरुदेवके स्वभाव की एक विशेषता थी कि वे मात्र भावना पर विश्वास नहीं करते थे। भावुकता जिसकी कोई ठोस भूमि न हो, उनकी दृष्टि में मात्र पागलपन और दंभ का योग ही थी। वे यथार्थता के समर्थक थे। वे सोचते थे कि मुझे मात्र श्रीकृष्ण के ही दर्शन हुए हैं तो श्रीकृष्ण की ही सेवा करूँगा। उनके तार्किक मन में इसका दृढ़ विश्वास था कि सम्पूर्ण व्रजलीला, चाहे कुञ्ज, निकुञ्ज गोष्ठ कुछ भी हो, श्रीकृष्ण में ही, श्रीपोद्दार महाराज में ही ओत-प्रोत है। जब श्रीकृष्ण मुझे सशरीर पोद्दार महाराज के रूप में प्राप्त हैं और मेरे चित्त में भी उनका वंशीधारी कदम्ब वृक्ष के नीचे खड़ा स्वरूप नित्य अविचल स्वप्न-जागरण सब समय अखण्ड स्थित है तो सारी लीला उनकी कृपा से अपने आप प्रकट होती जायगी। मुझे मनोजनित कल्पना का संसार कदापि नहीं बनाना है।

अतः वे जब 'यमुना' शब्द पर दस बीस सैकिण्ड अपना मन निक्षिप्त करते तो वे अपने हृदयस्थ श्रीकृष्ण के सम्मुख मचल पड़ते। "मुझे यथार्थ में ही यमुनाजी के दर्शन कराओ। जब मैंने तुम्हारा कभी किसी चित्र को लेकर ध्यान नहीं किया, तुम गोरे-काले जैसे हो जब मेरे दृष्टि पथ में अपने आप आये तो मैं किसी प्राकृत जल का क्यों ध्यान करूँ, यथार्थ सच्चिन्मयी जो श्रीयमुना हैं उन्हें मेरे सम्मुख प्रकट करो।

मुझे सच्चिन्मय वृन्दावन, तुम्हारे परम धाम के दर्शन कराओ, सचिन्नमय गिरिराज पर्वत के दर्शन कराओ। वे श्रीपोद्दार महाराज रूप श्रीकृष्ण के सम्मुख ही अपनी मानसिक सब माँग रखते थे।

साथ ही साथ वे श्रीकृष्ण की रुचि में पूर्णतया समर्पित भी थे और सोचते थे, यदि श्रीकृष्ण की रुचि अनन्त जन्मों तक मुझे नरक में रखने की हो तो मैं कुंज, निकुंज, वृन्दावन, गिरिराज, राधाकुण्ड की माँग ही क्यों रखूँ। उनकी

रुचि के विपरीत मुझमें कोई भी इच्छा का, संकल्प का, स्फुरण का जागरण भी क्यों हो ?

वे तो उनके ही प्राप्तरूप का इकटक पान करते और उनकी रुचि को ही अपना सफल जीवन मानते थे। उनमें विलक्षण समर्पण था। वे तो श्रीकृष्ण से ही पूछते - "तुम्हें मेरी गोरी आकृति प्रिय है, या काली। यदि तुम्हें मुझे गोरा बनाने में सुख अनुभव होता हो तो मेरे अंग गोरे रहें अन्यथा जो तुम्हें रुचिकर हो, वैसा ही मेरा रूप गढ़ना। जो गुण तुम्हें रुचिकर लगें वे ही गुण प्रदान करना। यदि मुझे घोर कुरूपा, गुणहीना, दुश्शीला रखने में एवं अपने विनोद की सामग्री बनाने में ही तुम्हें सुख हो तो मुझे वैसीही बना देना। जो कला तुम्हें आनन्ददायिनी हो, उसी कला में मुझे पारंगत करना । इतना ही नहीं मेरा हँसना-बोलना, मैत्री करना, जो भी स्वभाव , प्रकृति, तुम्हें रुचिकर हो मैं वैसी, वैसी सदा वैसी ही बनी रहूँ। मुझमें आपकी रुचि से भिन्न कुछ भी, कभी भी न हो। ऐसा विलक्षण हेतुरहित उनका श्रीकृष्ण के साथ प्रेम था। (यहाँ यह बात बार, बार पुनः प्रकट कर देता हूँ कि श्रीपोद्दार महाराज के सिवा उनके श्रीकृष्ण अन्य कुछ भी नहीं थे।)

इसीलिये उनका मधुरतम मनभावन प्रेम नित्य निरन्तर सहज ही बढ़ता चला गया। उनके प्रेम में न झूठी अनुनय विनय थी, न ही कोई गुणजनित हेतु था। श्रीकृष्ण चाहे कैसा भी अपराध करें, पू. गुरुदेव का प्रेम उनसे घटता ही नहीं था, उन्हें श्रीकृष्ण से न भोग की स्पृहा थी, न ही मोक्ष की, उन्हें तो अपना सर्वस्व उनपर न्यौछावर भर करना था। उनका प्रेम कारणरहित था, उपाधिरहित था, मलरहित था, बाहर से केवल बखान करने वाला नहीं, मात्र मन की वस्तु था, नित्य था, सीमारहित था, परिमाणरहित एवं दोष रहित था।

एक दिन श्रीपोद्दार महाराज के पास गुरुदेव बैठे थे। श्रीपोद्दार महाराज उन्हें किसी ग्रन्थ से उदाहरण पढकर सुनाने लगे जिसमें श्रीकृष्ण राधारानी को यमुना का स्वरूप दर्शन कराते हुए कहते हैं कि तेरा एवं मेरा प्रेम ही यह कालिन्दी यमुना है। श्रीकृष्ण कहते हैं - "यमुना का एक किनारा मैं हूँ एवं दूसरा किनारा तू है। मेरी तेरे प्रति प्रीति मुझ एक तट से बहती हुई तुझ दूसरे तट तक जाती है, फिर तुझे आत्मसात् करती हुई तेरी ही हो जाती है। फिर तेरी प्रीति हुई वही रस-धारा पुनः उमड़ती है और मुझ दूसरे तट को आप्यायित करती मेरी ही प्रीति सम्पदा बन जाती है। यह हम दोनों का प्रीति रस-प्रवाह ही तो यमुना है।

श्रीपोद्दार महाराज यह रस वर्णन कर ही रहे थे उसी समय पू. गुरुदेव जहाँ बैठे थे, वहीं एक परम निर्मल चिन्मय रस-प्रवाह बह उठा। यह रस प्रवाह ही परम शोभामयी यमुना बनकर उनके सम्मुख ही लहराने लगा।

यह यमुना पू. गुरुदेव की प्राण सहचरी बन गयी। क्योंकि ब्रजेशतनय का प्यार ही ब्रजरस होकर अति मंजुल रूप में गुरुदेव के नयनगोचर हो उठा था।

अपने प्राणसारसर्वस्व के प्रीतिभावों की इस तरंगिणी में, उसकी मधुरातिमधुर उर्मियों में पू. गुरुदेव का भावशरीर स्नान करने लगा। वह कोई स्त्री का किसी नदी में स्नान नहीं था। उनका मनोहर प्रियतम प्रेमसुख में आपाततः रस-अवगाहन था।

अहा कैसी रसमयी कलिन्दनन्दिनी यमुना भानुतनया प्रवाहित हो रही थी, पू. गुरुदेव के दृष्टिपथ में। उसका कण कण पू. गुरुदेव की अखण्ड सौभाग्य-सम्पदा बन गया था। उनके प्रियतम नीलमणि ही तो रससागर बने वहाँ लहरा रहे थे। उन्हें उस विरजा में यदि अपने प्रियतम नीलसुन्दर भरे दृष्टिगोचर नहीं होते तो चाहे कितनी ही दिव्य, चिन्मयी वह नदी क्यों न होती उनके क्या काम की ? वे उसकी चिन्मय सुन्दरता एवं दिव्यता पर अपनी दृष्टि निक्षेप भी नहीं करते।

अहा, उस यमुना में कुमुद और पद्मों का कैसा सुभग वन विकसित हो रहा था। श्रीगुरुदेव को स्पष्टतया अनुभव हो रहा था मानो प्रियतम नीलसुन्दर का मन ही इन सुमनों के रूप में उन्हें सुवास प्रदान कर रहा है। अहा ! उनकी समग्र दिशाओं में प्रिय के मन ने विलक्षण चिन्मयी सुवास भर दी थी। पू. गुरुदेव अनुभव कर रहे थे असंख्य अलिगणों का गुंजन, हंसों का कल-कल प्रेमोद्दीपक मधुर छन्दों में कूजन, उन सभी का अर्थ उनके लिये तो उनके नीलमयंक श्यामसुन्दर में ही पर्यवसित था। उनके प्रियतम नीलसुन्दर ही प्रस्फुटित अरविन्द पुञ्जों के रूप में उनके नयनों में अपनी प्रेममयी शोभा भर रहे थे। वे ही कृष्ण कोकिला की अति रसमयी वाणी में प्रिया-प्रिया रटते वन को गुँजाते उनकी विविध प्रकार से प्रेमवन्दना कर रहे थे।

इसी प्रकार पू. गुरुदेव ने एक दिवस अपने हृदयस्थ श्रीकृष्ण से प्रार्थना की - प्राणवल्लभ ! तुम कहते हो और यह मेरा अनुभूत सत्य भी है कि श्रीपोद्दार महाराज ही सचल वृन्दावन हैं, तब तो इनके चिन्मय भूमितत्व में ही महाप्रभु चैतन्यदेव, भक्तिमती विष्णुप्रिया, महाप्रभु वल्लभाचार्य, भक्तसम्राट सूरदास, श्रीपाद सनातन एवं रूप गोस्वामी आदि इस शरीर के किसी न किसी

भाग में अवश्यमेव अवस्थित होंगे ही। फिर मुझ पर इन सब वैष्णवों की कृपावर्षा कर दीजिये न नाथ ! यदि मेरी इच्छा में आपकी रुचि की अनुकूलता हो, तभी इस इच्छा की पूर्ति हो अन्यथा मेरी इच्छा को अवश्य अवश्य आग लगा देना।"

श्री श्री गुरुदेव के मुख से यह प्रार्थना होते ही पू. गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज की कृपा से वहीं गोरखपुर में ही वृन्दावन की दुर्लभ भजन-स्थलियों, इनमें पुरातन काल के भजननिष्ठ सिद्ध सन्तों, विख्यात मन्दिरों के श्री विग्रहों, लीला स्थलियों, एवं श्री श्री चैतन्य महाप्रभु, श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु आदि के प्रकट दर्शन हुए। इनका प्रेममय परम दुर्लभ संस्पर्श पू. गुरुदेव को प्राप्त हुआ।

श्री श्री गुरुदेव कहते थे कि श्रीकृष्ण की विचित्र लीला होती थी। पहले मुझे ऐसा अनुभव होता कि श्रीपोद्दार महाराज आये हैं और तब मुझे ये विलक्षण अनुभव होते। एक दिवस सवेरे ज्योंही मैं पू. गुरुदेव के पास गया, उन्होंने कहा - भैया ! आज तो मुझे श्रीमद्वल्लभाचार्य के दर्शन हुए हैं। वे श्यामवर्ण थे, उनकी गोक्षुर जितनी चौड़ी लम्बी चूड़ा थी। मैं जब उनके चरणस्पर्श करने को झुका तो आचार्यचरण बोले - आप चतुर्थाश्रमी सन्यासी होकर यह मर्यादा विरुद्ध कार्य क्यों करते हैं ? श्री गुरुदेव ने उत्तर दिया आप तो कोटि कोटि सन्यासियों के वन्दनीय हैं। श्रीगुरुदेव मुझसे पूछ रहे थे - उनकी आकृति श्यामवर्ण थी न ? मुझे तो श्यामवर्ण दिखे हैं। उनके साथ सुरभी गैया भी थी।

इसी प्रकार पू. गुरूदेव को श्री श्री चैतन्य महाप्रभु के भी दर्शन हुए। वे कीर्तन कर रहे थे। फव्वारे की तरह उनके नेत्रों से अश्रुधार प्रवाहित हो रही थी। पू. गुरुदेव कहते थे कि यह सर्वथा सत्य है कि विरहावेश में उनके शरीर में इतना ताप होता था कि पत्थर पिघल जाता था और वहाँ उनके चरण अंकित हो जाया करते थे। श्रीसनातन गोस्वामी से तो उनकी रस-चर्चा भी हुई थी।

पू. गुरुदेव ने मुझसे कहा था कि जब श्रीसनातन गोस्वामी प्रभुपाद से मेरा मिलन हुआ तो उन्होंने उन्हें अष्ट सखियों के सम्बन्ध में अपनी अनुभूति बतलायी। उन्होंने श्रीप्रभुपाद से विनम्र निवेदन किया कि गौड़ीय आचार्यों के मत में श्री ललिता में खण्डिता भाव, श्री विशाखामें स्वाधीनभर्तृका भाव, श्रीचित्राजी में दिवाभिसारिका भाव, श्रीइन्दुलेखाजी में प्रोषितभर्तृका भाव,

श्रीचम्पकलताजी में वासकसज्जा भाव प्रमुख हैं। श्रीरंगदेवीजी में गौड़ीय आचार्यों ने उत्कण्ठिता भाव का विशद विवेचन किया है । यह विवेचन अत्यधिक वैदुष्यपूर्ण है और गंभीर है। पू. गुरुदेव श्रीसनातन गोस्वामीपाद से कह रहे थे कि उन्हें गौड़ीय आचार्यों से मात्र एक स्थल में भिन्न अनुभव होता है। श्रीतुंगविद्याजी का भाव है विप्रलब्धा एवं विप्रलब्धा भाव का सागर तथा उत्कण्ठिता का भावसागर जब ये दोनों सागर खूब लहरायें, तो उन दोनों सागरों का जो सम्मिलन बिन्दु है, उन्हें उसकी तो प्रतीक लगती है श्रीरंगदेवीजी। उन्हें स्पष्ट अनुभव होता है कि उत्कंठिता और विप्रलब्धा भाव के समान सम्मिश्रण-रूप-भावोच्छलन की प्रतीक तो हैं श्रीरंगदेवीजी और उत्कंठिता प्रमुख विप्रलब्धा-भावोच्छलन की प्रतीक हैं श्रीतुंगविद्याजी। श्रीसुदेवीजी कलहान्तरिता भावोच्छलन की प्रतीक हैं। अतः पू० गुरुदेव की मान्यतानुसार अष्टसखियों का जो क्रम बनता है उसमें प्रथम खण्डिता भाव की प्रतीक हैं ललिता, फिर स्वाधीनभर्तृका भाव की प्रतीक विशाखा, फिर दिवाभि-सारिका भाव की प्रतीक श्रीचित्राजी, फिर प्रोषितभर्तृका भाव की प्रतीक श्रीइन्दुलेखाजी, फिर वासकसज्जा भाव की प्रतीक श्रीचम्पकलताजी एवं तब उत्कंठिता और विप्रलब्धा के समान सम्मिश्रण की प्रतीक श्रीरंगदेवीजी और उनके पश्चात उत्कंठिता प्रमुख विप्रलब्धा भाव की प्रतीक श्रीतुंगविद्याजी आती हैं औरतब कलहान्तारिता भाव प्रमुख श्रीसुदेवीजी होती हैं। परमवंद्य श्रीगौड़ीय आचार्यों ने चम्पकलताजी के पश्चात तुंगविद्याजी को स्थान दिया है तब श्रीरंगदेवीजी का स्थान है।

श्री सनातन गोस्वामी पाद ने पू. गुरुदेव की अनुभूति की सराहना की। श्री गुरुदेव कहते थे कि कोई यदि पूछे कि इसका प्रमाण क्या हैं ? तो प्रमाण मात्र मेरी अनुभूति और मेरा कथन है। किसी को मेरे कथन के सत्य में ही यदि सन्देह है तो वह मेरी बात अनसुनी कर दे।

इसी प्रकार श्री श्री गुरुदेव को श्रीनाथजी की झाँकी, श्रीविहारीजी की झाँकी गोरखपुर में ही हुईं थीं। उन्हें श्रीराधावल्लभजी, श्रीमदनमोहनजी, श्रीगोविन्ददेव, सभी विग्रहों के दर्शन वहीं गोरखपुर में हुए थे।

यद्यपि ये सभी दर्शन और अनुभूतियाँ क्रमशः भविष्य में अनेक वर्षों में हुई हैं तात्कालिक नहीं है। फिर भी प्रसंगवश उनका इसी परिच्छेद में वर्णन है।

पू. श्री गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के साथ उनके पूर्वजों के जन्मस्थान रतनगढ़ (राजस्थान) में चार-पांच वर्ष १९४० से १९४५ ई. के मध्य तक रहे। श्रीपोद्दार महाराज की पैतृक निवास-स्थली के पास ही जहाँ एक अन्य सेठ सर्राफों की हवेली थी, वहाँ उन्हें यमुना प्रवाह लहराता नेत्रों से दृष्टि गोचर होता था। श्रीगुरुदेव को पोद्दार महाराज सर्वदेवमय दृष्टिगोचर होते थे। उनकी धर्मपत्नी में उन्हें प्रत्यक्ष शशिशेखरा माणिक्य मुकुट धारण किये पूर्ण रक्तवर्णा चन्द्रानना जगज्जनन्नी आद्याशक्ति महात्रिपुरसुन्दरी भगवती पूर्णतया प्रकट दिखती थीं।

मैं (लेखक) उन दिनों युवक था। पू. अ. सौ. माताजी (श्रीपोद्दार महाराज की धर्मपत्नी) पू० गुरुदेव को भिक्षा करा रहीं थीं। किसी विषय में मैंने (लेखक) पू. माताजी की अवज्ञा कर दी। पू. गुरुदेव ने जैसे क्रोध में भरे हों, वैसी तेज आवाज में मुझसे पूछा - तू जानता है, तूने किसकी अवज्ञा, तिरस्कार किया है ? ये कौन हैं ? मैने कहा - बाबा ! ये मेरी बड़ी मामी हैं ! मैं श्रीपोद्दार महाराज को बड़े मामाजी कहता था। पू. गुरुदेव कड़क कर बोले - मेरी दृष्टि से देख ! अपनी अंधी फूटी आँख से क्या सत्य देख पावेगा? और उन्होंने उनका साक्षात् चन्द्रशेखरा, माणिक्य मुकुट धारणकर्त्री त्रिनेत्रा स्वरूप का दिग्दर्शन मेरे सम्मुख किया। उन्हें वे कभी चतुर्बाहु समन्विता दिखतीं एवं कभी द्विभुजा पराम्बा रूप में दृष्टिगोचर होतीं। लगातार ५३ वर्षों तक पू. गुरुदेव उनमें दिव्य परम चिन्मय मातृस्वरूप के ही दर्शन करते रहे।

मेरे उस दिन के अपराध को क्षमा कराने के लिये उन्होंने मुझसे स्वयं एक पाठ ललिता सहस्त्रनाम का सुना, बिल्ववृक्ष के नीचे भगवती की पंचोपचार से पूजा करवायी। वे यदाकदा स्पष्ट कहते थे जिन लीलाविधातृ शक्ति के बल पर मैं तुम्हारा तत्काल दूसरा जन्म दिव्य वृन्दावनधाम (गोलोक) में कराना चाहता हूँ, उनकी तुम अवज्ञा करो, यह मेरे लिये सर्वथा असह्य हो जाता है।

यह घटना सन् १९४८ ई. की है। मैं इन्टरमीडियेट की संगीत परीक्षा देने काशी गया था। मेरी परीक्षा जिसदिन समाप्त हुई, उसके दूसरे दिन शिवरात्रि थी। पू० गुरुदेव गोरखपुर में शिवरात्रि के दिन निशापर्यन्त पूजा कराया करते थे। शिवरात्रि की पूजा में मेरे द्वारा श्रीविद्यापति के रचित मैथिली भाषा के शिवविवाह के पद हर वर्ष गाये जाते थे। पू० गुरुदेव मन में

सोच रहे थे कि मैं परीक्षा देकर रात्रि को गाड़ी में बैठकर सुबह शिवरात्रि के दिवस गोरखपुर अवश्य पहुँच जाऊँगा और निर्विवाद पूजा में संकीर्तन की सेवा कर दूँगा। उन्होंने मेरी दिनभर एवं रात्रिभर प्रतीक्षा भी की। मैं शिवरात्रि के दिन की अपेक्षा दूसरे दिवस सायंकाल बस से गोरखपुर पहुँचा। मैं उन्हें प्रणाम करने ज्योंही उनके सम्मुख गया तो उन्होंने मुझसे जाते ही जिज्ञासा की - 'अरे, तेरी परीक्षा तो परसों ही सम्पन्न हो गयी थी, कल क्यों नहीं आया ?'

मैने उत्तर दिया - "बाबा ! शिवरात्रि पर काशीधाम में रहने के लोभ से रुक गया था। रात्रि में भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर में पूजा-दर्शन किये, वहीं रात्रि-जागरण किया, अन्नपूर्णादेवी के भी दर्शनों का सौभाग्य मिला।"

उन्होंने मुझे बहुत निराशाभरे स्वर में एकदम भर्त्सनापूर्वक झिड़क कर कहा - "क्या खाक सौभाग्य मिला ? माँ अन्नपूर्णा और भगवान् विश्वनाथ गत रात्रि काशी में थे ही नहीं । स्वयं काशीधाम ही या तो यहाँ अवतरित था, अथवा भगवान् वहाँ से यहाँ चले आये थे।" मैं उनकी बात सुनकर स्तब्ध हो गया।

फिर उन्होंने मुझे अपना सम्पूर्ण अनुभव खोलकर बतलाया। वे कहने लगे - "भैया ! पूजा का प्रारंभ श्रीपोद्दारमहाराज एवं अ० सौ० माताजी द्वारा हो, यह मेरे मन में विचार अवश्य आया था। परन्तु क्योंकि मेरे निमंत्रण पर पू० पोद्दार महाराज कभी अनुकूल उत्तर नहीं देते थे, अतः मैने श्रीपरमेश्वर प्रसादजी फोगला (श्रीपोद्दारमहाराज के जामाता) एवं उनकी पुत्री (सौ० सावित्रीबाई) को ही पूजा करने के लिये चयन कर लिया और श्रीफोगलाजी को मात्र पूजा प्रारंभ करने की अनुमति लेने उनके पास भेजा था।

श्रीपोद्दार महाराज ने जाते ही श्रीफोगलाजी से कहा - 'थाँरो बाबो आज मेरे से पूजा कोनी करवावै ?' (हिन्दी में - क्या आपका बाबा आज मेरे से पूजा नहीं कराना चाहता ?) उनकी ऐसी प्रतिक्रिया देखकर श्रीपरमेश्वरजी सकपका गये, उन्होंने प्रस्ताव किया - आप चलिये। और वे सचमुच ही स्वयं सावित्री की माँ (पू० अ० सौ० माताजी) को लेने गये और तत्परतापूर्वक पूजार्थ आ गये। उन्होंने अति मनोयोगपूर्वक एक पूजा सम्पन्न की। और सम्पूर्ण पूजा में पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज अपनी पोद्दार-देह तथा आकृति में सर्वथा दिखे ही नहीं। वे साक्षात् वर-वेष में भगवान् शंकर ही उनकी दृष्टि में आते रहे। पू० गुरुदेव आश्चर्यचकित थे कि यह क्या हो रहा है ?

उनकी धर्मपत्नी अं० सौ० रामदेई माताजी भी साक्षात् भगवती पार्वती के रूप में ही उन्हें दिखती रहीं।

इधर पंडित लोग रुद्राष्टाध्यायी का पाठ कर रहे थे, परन्तु पू. गुरुदेव को उन्हें हिमालय प्रदेश में भगवान् के विवाह की लीला प्रत्यक्ष दिख रही थी। एक-एक देवता -- भगवान् नारायण, भगवती लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी, भगवती सरस्वती, सब देव-देवांगनाएं, न जाने कैसी शोभा लिये समुपस्थित थीं, क्या कहा जाये ?

एक पूजा पूरी करके श्रीपोद्दार महाराज पू० गुरुदेव के सम्मुख बोले - "बाबा ! अभी भी मुझे कल्याण के अंतिम प्रूफ देखने हैं, सुबह ही मशीन में नहीं जायेंगे तो मशीनें खाली रहेंगीं।" पू० गुरुदेव ने उन्हें साश्रु-नयन विदा किया। परन्तु उनके रंगमंच से हटते ही वह विवाह-दृश्य भी लुप्त हो गया। पू० गुरुदेव कह रहे थे कि जब तक वे बैठे रहे, इसी बिल्ववृक्ष के नीचे भगवान् विश्वनाथ और माँ अन्नपूर्णा स्थित थीं। उनकी शिव-पार्वती-विवाह-लीला पूरी यहाँ सम्पन्न हुई।

पू. गुरुदेव कह रहे थे कि जब उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ तो उन्हें मेरी (लेखक की) स्मृति हुई। वे मेरे अभाग्य पर दुखी हो रहे थे।

पू० गुरुदेव के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर मैं अपने अभाग्य पर पश्चाताप करने लगा। वास्तव में ही श्रीगुरुचरणों में जैसी श्रद्धायुक्त भक्ति एवं अनुशासन की आवश्यकता होती है, मुझमें तो उसका सर्वदा अभाव ही रहा।

शास्त्रीय आधार

साधक जब साधना करता है, तब वह वृन्दावन की, कालिन्दी की, कुञ्जों की भावना करता है। भावना के परिपक्व होने पर जब वास्तविक वृन्दावन अवतरित होता है, उस समय जो स्थिति होती है, वह पूर्णतः अचिन्त्य, सर्वथा अनिर्वचनीय होती है। दिव्य चिन्मय-वृन्दावन के कुञ्ज-सर-सरोवर निकुञ्ज-लता-पादप-पुष्प-पक्षी आदि ऐसे हैं कि उनका वर्णन संभव ही नहीं है। उनका वर्णन करना स्वयं को ठगना है। जिसका वर्णन असंभव हो, उसके वर्णन का प्रयास करना आत्मवंचना ही है। भावना के वृन्दावन, कुञ्ज, निकुञ्जादि की वह छवि, इस छवि से सर्वथा ही अलग है; शब्दों से उसकी ओर संकेत करना संभव ही नहीं। उस वृन्दावन की दिव्य छवि का यदि कहीं